THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_176454
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 181.4 L54A

Acc No. H 676

लक्ष्मणनारायण गर्दे

अरविन्द और उनका योग

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 1.81:L Accession No. H 676

Author L 34 A

Title लक्ष्मणनारायण गर्दे

This book should be returned on or before the date last marked below. श्रीअरविन्द और उनका योग

श्रीअरविन्द और उनका योग

सम्पादक

लक्ष्मणनारायण गर्दे

श्रीअरविन्द-ग्रंथमाला,

४, हेयर स्ट्रीट,

कलकत्ता ।

प्रकाशक
मदनगोपाल गाड़ोदिया

प्रथम संस्करण
अप्रैल, १९३६

मुद्रक
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य आठ आना

प्रकाशकका वक्तव्य

श्रीअरविन्दके योगपर इस समय संसारकी दृष्टि लगी है। संसारके अधिकांश भागमें इस योगकी चर्चा कम या अधिक मात्रामें है। भारतवर्ष तो बड़ी उत्सुकताके साथ इस ओर देख रहा है और उसका श्रीअरविन्दके साथ अति निकट सम्बन्ध होने तथा उनकी महानतापर उसे पूरा भरोसा होनेके कारण उनके योगकी पूर्ण सफलताके लिये हृदयसे कामना करता है। हिन्दी-संसार भी, यद्यपि अभीतक श्रीअरविन्दके योगके सम्बन्धमें बहुत कम ज्ञान रखता है फिर भी उनकी ओर श्रद्धा और भक्तिकी दृष्टिसे देखता है तथा प्रार्थना करता है कि इनकी महान् तपस्याका फल संसारको शीघ्र प्राप्त हो।

श्रीअरविन्दके योगके सम्बन्धमें हिन्दीमें अभीतक बहुत कम चर्चा हुई है और इस सम्बन्धके साहित्यका बहुत ही कम प्रकाशन हुआ है। श्रीअरविन्दका योग क्या है, इसका पूरा वर्णन करनेके लिये एक ग्रन्थमाला-की आवश्यकता है और इसीलिये 'श्रीअरविन्दग्रन्थ-माला' का आयोजन हुआ है, जिसमें हिन्दी-संसारको इस योगका सम्यक् तथा प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त हो। इस ग्रन्थमालाके जो पुष्प क्रमशः प्रस्फुटित होंगे वे अपनी दिव्य सुगन्धसे हिन्दी-संसारमें एक दिव्य भाव, एक दिव्य आनन्दका सञ्चार करेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है।

योग शब्दसे जो एक साधारण धारणा होती है, अर्थात् एक मनुष्यका संसारत्यागी या संन्यासी हो जाना अथवा संसारसे विरक्त हो जाना, तथा हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, तन्त्रयोग आदिको पृथक्-पृथक् पढ़कर भी जो भाव उत्पन्न होता है, श्रीअरविन्दका योग वह नहीं है। इस योगका ध्येय, संसारकी अज्ञान चेतनासे ऊपर उठकर प्रभु-चेतनामें मिल जाना अर्थात् निर्वाण या मुक्ति नहीं है, यद्यपि मोक्ष इसकी साधनामें आपसे-आप अनिवार्य रूपसे आ जाता है। इसका ध्येय है प्रभु-चैतन्यकी विज्ञान-शक्तिका मन-बुद्धि, प्राण और शरीरमें अवतरण करना, जड़ प्रकृतिमें दिव्य जीवन उत्पन्न कराना।

इस योगकी साधनामें कोई विशिष्ट प्रकारका आसन, प्राणायाम, मन्त्र, जप अथवा शास्त्र-शिक्षण और अभ्यास नहीं है, बल्कि इसकी साधना आरम्भ होती है अभीप्सा अर्थात् आरोहणेच्छासे, अर्थात् ईश्वरके प्रभुत्व और प्रसाद तथा उनके कार्यको करनेके लिये अपने-आपको पूर्ण रूपसे खोल देनेके साथ। अपने-आपको खोल देनेका अर्थ है अपने समस्त अंगोंको इस प्रकार एक स्वरमें महाशक्तिके संग संयुक्त कर देना कि वे इस शरीर, प्राण और मन-बुद्धिमें दैवी अवस्था ला सकें। इस साधनाका दूसरा रूप है सतत जाग्रत् रहकर जो कुछ भी प्रभु चैतन्य, सत्य और आनन्दके अवतरणमें बाधक है अर्थात् अज्ञान है उसका सर्वथा त्याग। और इस योगकी साधनाका तीसरा रूप है आत्मसमर्पण अर्थात् अपनेको पूर्ण रूपसे भगवान्के अर्पण कर देना। अस्तु! इस योगकी साधनाका मूल यह है कि, अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पणद्वारा हृत पुरुष दैवी प्रभावके लिये अपने-आपको श्रद्धा, भक्ति और प्रसन्नतापूर्वक प्रभुका अनुगामी बना दे अर्थात् उसके हृदय, मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और शरीर यहाँतक कि रोम-रोमसे भगवान्की चाह उठ खड़ी हो और भगवत्-प्रसाद-के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रभावको पासतक न फटकने दे। इस प्रकार जो अपने-आपको प्रभुके निमित्त न्योछावर कर देता है उसे जगजननी माता अपने हाथमें ले लेती हैं और

उसके अंग-अंगका, अन्तर और बाह्य जीवनका इस प्रकार रूपान्तर कर देती हैं कि वह भागवत विज्ञानके अवतरण-का एक उपयुक्त यन्त्र हो जाता है।

इस योगकी समस्त साधना आभ्यन्तरीण है और यद्यपि ऊपर कहे हुए वाक्य कहनेमें सहज मालूम होते हैं पर इनकी कार्यमें परिणति एक दुःसाध्य तपस्या है और इसमें वही सफलता प्राप्त कर सकता है जिसको आत्मासे यह पुकार उठी हो कि वर्तमान संसार और वर्तमान सांसारिक जीवन बहुत हो चुका, अशुद्ध भोग और अज्ञानमय तथा अन्धकारपूर्ण जीवन अब आनन्द नहीं देता, अब तो इसमें भगवान्‌के निज चैतन्यका अवतरण हो और वासना और चेष्टासे निवृत्ति पाकर भगवान्‌का सुदक्ष कर्मी बनें जिसके लिये कि वह आया है।

इस योगमें कर्मपर विशेष ध्यान दिया गया है और यहाँके योगी समय और कर्मके बहुत ही पाबन्द हैं। पर यह होता है अपने लिये नहीं, प्रत्युत भगवान्‌के लिये। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णद्वारा कथित 'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्मकी कुशलता ही योग है, 'समत्वं योग उच्यते'—प्रत्येक अवस्थामें समताका नाम योग है,

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

—अर्थात् जो कुछ भी करते हो वह मुझे अर्पण करो।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

—समस्त धर्मोंको त्यागकर केवल एक मेरी शरण हो, आदि महावाक्योंको श्रीअरविन्दके योगकी साधना पूर्ण रूपसे कार्यमें परिणत करती है। यदि किसीको गीताके कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका समन्वय और उनकी कार्यमें परिणतिका दिग्दर्शन करना है तो वह उसे पाण्डिचेरी-स्थित श्रीअरविन्द-आश्रममें खोजनेपर पा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीअरविन्दके जीवन, उनके योग और उनके शास्त्रकी बहुत ही संक्षिप्त चर्चा है। इस पुस्तकके लेख श्रीअरविन्द-आश्रमके कतिपय साधकों और भक्तोंद्वारा लिखे हुए हैं। हमारा विश्वास है कि इससे पाठकोंकी आध्यात्मिक खोजकी सुरुचिकी यथेष्ट वृद्धि होगी। श्रीअरविन्दके विभिन्न ग्रन्थ शीघ्र ही इस ग्रन्थमालाद्वारा प्रकाशित किये जायँगे।

विनीत,

मदनगोपाल

श्रीहरिः

विषय-सूची

१–श्रीअरविन्द-चरित (श्रीदिलीपकुमार राय) ... १

२–जीवनकला-योग (श्रीनलिनीकान्त गुप्त) ... १२

३–श्रीअरविन्दका पूर्ण योग (श्रीअनिलवरण राय) २२

४–नवस्वरूपदर्शन और बोध (श्रीमहेन्द्रनाथ सरकार) ३६

५–श्रीअरविन्द और उनका 'सम्प्रदाय'
(श्रीनलिनीकान्त गुप्त) ... ४९

६–श्रीअरविन्दका गीताभाष्य (श्रीनलिनीकान्त गुप्त) ५७

७–आध्यात्मिक जीवन (श्रीअनिलवरण राय) ... ६२

८–ईश्वरका राज्य (श्रीनलिनीकान्त गुप्त) ... ७९

श्रीअरविन्द और उनका योग

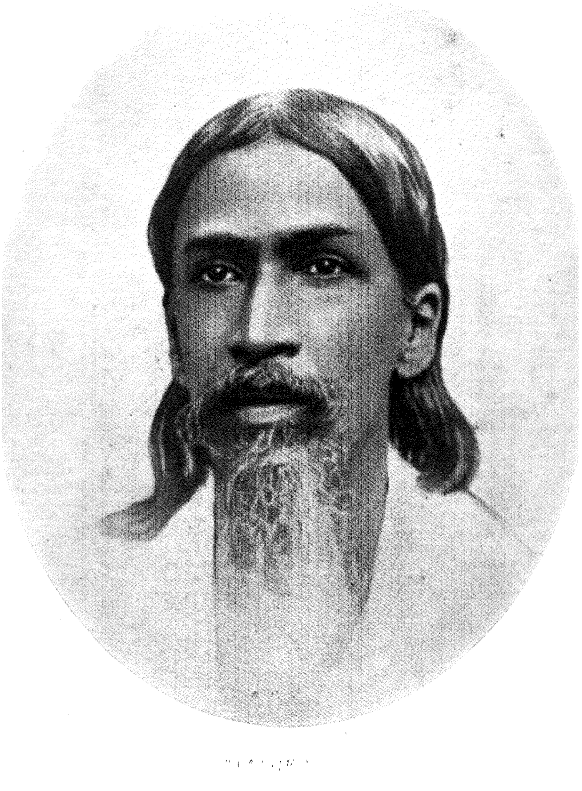

श्रीअरविन्द

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीअरविन्द-चरित

सन् १८७२ ई० में तारीख १५ अगस्तको कलकत्तेमें श्रीअरविन्दका जन्म हुआ। सन् १८७९ में जब वे सात वर्षके थे तब, वे और उनके साथ उनके दो बड़े भाई, शिक्षा प्राप्त करनेके लिये इंग्लैंड भेजे गये। वहाँ १४ वर्ष उनका निवास हुआ। मैंचेस्टरमें एक अंगरेज परिवारमें इनका लालन-पालन हुआ, इसके बाद सन्

१८८५ में लंदनके सेंट पाल स्कूलमें दाखिल हुए और सन् १८९० में यहाँसे उत्तम श्रेणीकी छात्रवृत्ति लेकर कैंब्रिजके किंग्स कालेजमें भरती हुए जहाँ दो वर्षतक उनकी पढ़ाई हुई। इसी सन् १८९० में इन्होंने इंडियन सिविलसर्विस-की भी परीक्षा पास की, पर इसके बाद दो वर्षके अभ्यास-क्रमके अन्तमें घुड़सवारीकी परीक्षामें हाजिर ही नहीं हुए और इस कारण सिविलसर्विसके लिये अनुपयुक्त माने गये। इस समय बड़ौदा-नरेश श्रीमान् सयाजी राव गायकवाड लंदनमें थे। श्रीअरविन्द उनसे मिले और बड़ौदा राज्यकी सेवा स्वीकार कर १८९३ के फरवरी मासमें इंग्लैंडसे हिन्दुस्थान लौट आये।

यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि इंग्लैंडमें श्रीअरविन्दने जो शिक्षा प्राप्त की उससे उन्हें प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन यूरोपकी संस्कृतिका परिचय बहुत अच्छी तरहसे प्राप्त हो गया। ग्रीक और लैटिन भाषाओंमें उन्हें असाधारण निपुणता प्राप्त हुई। फ्रेंच भाषा तो उन्होंने मैंचेस्टरमें रहते हुए, बचपनमें ही सीख ली थी। जर्मन और इटालियन भाषाएँ भी वे इतनी अच्छी तरहसे जान गये थे कि गेटे और दांतेके काव्यग्रन्थ उन्होंने मूलमें ही पढ़े। उन्होंने कैंब्रिजकी ट्रिपौस परीक्षा प्रथम श्रेणीमें पास की थी और इंडियन सिविल-

सर्विसकी परीक्षामें ग्रीक और लैटिनमें अपूर्व मार्क-संख्या पायी थी।

सन् १८९३ से १९०६ तक, १३ वर्ष, श्रीअरविन्दने बड़ौदा-राज्यका कार्य किया, पहले रेवेन्यूके महकमेमें तथा महाराजके सेक्रेटरियटके काममें थे, पीछे बड़ौदा कालेजमें अंगरेजीके प्रोफेसर और तब कालेजके वाइस-प्रिंसिपल हुए। ये १३ वर्ष श्रीअरविन्दके स्वसंस्कारमें तथा साहित्यिक कृतियोंमें व्यतीत हुए—पांडीचेरीसे उनके जो काव्य पीछे प्रकाशित हुए वे प्रायः इसी समय निर्मित हुए थे। यह समय उनके भावी कार्यकी पूर्व-तैयारीका था। इंग्लैंडमें, इनके पिताके स्पष्ट निर्देशके अनुसार इन्हें पूर्ण पाश्चात्य शिक्षा दी गयी जिसमें हिन्दुस्थान और प्राच्य संस्कृतिका कुछ भी सम्पर्क नहीं था। यह कमी श्रीअरविन्दने बड़ौदेमें रहते हुए पूरी की, संस्कृतका अध्ययन किया और कई आधुनिक भारतीय भाषाएँ सीखीं, भारतीय संस्कृतिके भावोंको तथा उनके पूर्वतन और अद्यतन रूपोंको स्वायत्त किया। इस कालके अन्तिम भागका अधिकांश, यथाप्राप्त अवकाशमें, मौनयुक्त राजनीतिक उद्योगमें व्यतीत हुआ। कारण, बड़ौदेमें उनकी जो स्थिति थी उससे वे सार्वजनिक रीत्या कोई कार्य नहीं कर सकते थे। सन् १९०५ में बंगविच्छेदके विरुद्ध जो

आन्दोलन उठा उससे उन्हें बड़ौदा-राज्यकी सेवा छोड़कर प्रकट रीतिसे राजनीतिक आन्दोलनमें सम्मिलित होनेका अवसर मिला । १९०६ में उन्होंने बड़ौदा छोड़ा और नव-संस्थापित बङ्गाल नैशनल कालेजके प्रिंसिपल होकर कलकत्ते आये ।

सन् १९०२ से लेकर सन् १९१० तक, ये आठ वर्ष श्रीअरविन्दके राजनीतिक कार्यके वर्ष थे । इस कालके पूर्वार्द्धमें वे परदेकी आड़में रहकर अन्य सह-कार्य-कर्ताओंके साथ स्वदेशी आन्दोलनके समारम्भकी तैयारी कर रहे थे । बङ्गालमें जो आन्दोलन उठा उससे, आगे बढ़कर, प्रत्यक्ष फलप्रद राजनीतिक उपायके सार्वजनिक प्रयोगके लिये द्वार खुल गया । तबतक माडरेटदलका सुधारवाद ही था जो कुछ था और वही भारतीय राष्ट्र-महासभा (कांग्रेस) का व्रत था । अब उसके आगे बढ़कर राजनीतिक क्षेत्रमें विशेष पुरुषार्थ कर दिखानेका समय उपस्थित हुआ । इसी हेतुसे १९०६ में श्रीअरविन्द बंगालमें आये और कांग्रेसके नवस्थापित नवीन दलके साथ हो लिये । यह दल माडरेटदलवालोंके विचारोंसे आगे बढ़ा हुआ था, पर इसका संख्याबल अभी बहुत कम था, और प्रभाव भी उतना ही । इस दलका राजनीतिक सिद्धान्त असहयोगका ही एक अस्पष्ट-सा रूप था और कार्यतः

इसका प्रयोग कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनमें विषयनिर्वाचिनी समितिकी गुप्त बैठकोंकी आड़में माडरेटदलके नेताओंसे अकिंचित्कर मुठभेड़ोंके सिवा और किसी बातमें न हो पाता था। श्रीअरविन्दने इस दलके नेताओंको उभारा कि वे खुल्लमखुल्ला एक निश्चित और ललकारनेवाले कार्य-क्रमके साथ मैदानमें आवें और महाराष्ट्रके लोकप्रिय नेता तिलकको लोकनायक मानकर अखिल भारतीय दल कायम करके, पुराने राजनीतिज्ञोंके प्रबल बनकर बैठे हुए माडरेट-दल नामी गुटपर आक्रमण करें और कांग्रेस और देशपर अपना अधिकार जमावें। माडरेटदलवालों और राष्ट्रीय दलवालों (जिन्हें उनके विरोधी गरम दलवाले कहा करते थे उन-) के बीच जो इतिहासप्रसिद्ध संघर्ष हुआ उसका यही मूल है। उसीसे दो वर्षके भीतर भारतीय राजनीतिक उद्योगका स्वरूप सर्वथा बदल गया।

नवजात राष्ट्रीय दलने देशके सामने स्वराज्य (स्वाधी-नता) का ध्येय रखा जहाँ पहले शासन-सुधारकी मन्द गतिसे सौ दो सौ वर्षमें कभी किसी दिन पूरी होनेवाली औपनिवेशिक स्वराज्यकी मन्द-सी आशा ही केवल, माडरेटोंके (नरम दलके) सामने थी।

इसी समय 'वन्दे मातरम्' नामक दैनिक पत्र स्थापित हुआ जिसके सम्पादक श्रीअरविन्द थे और श्रीअरविन्दके

प्रभावसे इस नवसंस्थापित दलने इस पत्रको अपना मुख-पत्र माना और इसका खर्च चलाया। 'वन्दे मातरम्' सन् १९०७ के आरम्भमें स्थापित हुआ और सन् १९०८ में, जबकि श्रीअरविन्द कारागृहमें थे, यह अकस्मात् बंद हो गया। इस बीच इस पत्रकी नीतिके विधायक सम्पूर्ण रीतिसे श्रीअरविन्द ही थे। इसका प्रचार देखते-देखते ही प्रायः सारे हिन्दुस्थानमें हो चुका था। इसने अपने अल्प-से पर अत्यन्त ज्वलन्त जीवनमें हिन्दुस्थानका राजनीतिक मानस ही बदल दिया और तबसे अभी-अभीकी राष्ट्रीय घोषणाओं-तकमें हिन्दुस्थानने अपने चित्तपर स्वाधीनताकी वही मुद्रा अङ्कित कर रखी है जो उस समय अङ्कित की गयी थी।

१९०७ में श्रीअरविन्द राजद्रोहके मामलेमें गिरफ्तार किये गये और बेलाग छोड़ दिये गये। अबतक वह संयोजक (संघटक) और लेखक थे, पर अब इस घटनाके कारण तथा अन्य नेताओंके कैद होने या किसी प्रकार न रहनेसे इन्हें बंगालमें इस दलके नेताके रूपसे प्रकट होना पड़ा और व्याख्यानमञ्चपर आकर व्याख्यान भी देने पड़े। सन् १९०७ में सूरतमें दोनों दलोंके भीषण संघर्षके कारण कांग्रेसके टूटनेपर जो राष्ट्रीय परिषद हुई उसके सभापति श्रीअरविन्द थे। सन् १९०८ के मई मासमें श्रीअरविन्दके भाई श्रीवारीन्द्र कुमारके क्रान्तिकारक दलकी कार्रवाइयोंके

सम्बन्धमें श्रीअरविन्द गिरफ्तार किये गये, पर उनके विरुद्ध कोई भी प्रमाण नहीं ठहर सका और इस कारण इस मामलेमें भी वे छोड़ दिये गये। इस बीच, मामला फैसल होनेतक, एक वर्ष, उन्हें अलीपुर जेलमें अभियुक्त कैदीके नाते रहना पड़ा। सन् १९०९ के मई मासमें वे छूट आये।

अब उन्होंने 'कर्मयोगिन्' नामक अंगरेजी साप्ताहिक पत्र और 'धर्म' नामक बंगला साप्ताहिक पत्र निकाला। अलीपुर जेलमें जो उन्हें बारह मास बंद रहना पड़ा वह समय उनका पूर्णतया योगाभ्यासमें बीता और तबसे उनके आध्यात्मिक जीवनके लिये एकान्तसेवन अधिकाधिक आवश्यक हो रहा था। इसलिये उन्होंने, कम-से-कम कुछ कालके लिये, राजनीतिक क्षेत्रसे अलग होनेका निश्चय किया।

सन् १९१० के फरवरी मासमें वे चन्दरनगरके एक निर्जन स्थानमें रहनेके लिये चले गये और अप्रेल महीनेमें समुद्रके रास्ते पांडीचेरीके लिये रवाना हो गये। इसी समय उनपर तीसरा मामला दायर हुआ। इसका सम्बन्ध 'कर्मयोगिन्' में प्रकाशित श्रीअरविन्दके एक हस्ताक्षरसहित लेखसे था। उनकी अनुपस्थितिके कारण, पत्रके मुद्रक-पर ही मामला चलाया गया, मुद्रकको दण्ड सुनाया गया

पर अपील करनेपर हाईकोर्टने मुद्रकको निर्दोष कहकर छोड़ दिया। उनपर मामला चलानेका यह तीसरा प्रयत्न भी व्यर्थ हुआ। श्रीअरविन्द बंगालसे जो चले गये सो अधिक अनुकूल परिस्थितिमें आकर फिरसे राजनीतिक क्षेत्रमें उतरनेकी कुछ अभिलाषा मनमें रखे हुए चले गये थे, पर बहुत शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि जो आध्यात्मिक कार्य उन्होंने हाथमें लिया है उसीमें उन्हें और सब तरफसे मनको हटाकर, तन-मन-प्राणसे लग जाना पड़ेगा। तबसे अर्थात् १९१० में पांडीचेरीमें आनेके समयसे अबतक श्रीअरविन्द अपने आध्यात्मिक कार्य और साधनामें ही सर्वतः लगे हुए हैं।

सन् १९१४ में अर्थात् ४ वर्ष एकान्त योगाभ्यासके पश्चात् उन्होंने 'आर्य' नामक तत्त्वज्ञानविषयक मासिक पत्र निकाला। श्रीअरविन्दके विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैसे 'ईशोपनिषत्', 'गीताविषयक निबन्ध' आदि जो पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं तथा 'दिव्य जीवन', 'योग-समन्वय' आदि जो अभी पुस्तकाकार नहीं प्रकाशित हुए हैं, इसी 'आर्य' पत्रमें क्रमशः निकलते रहे हैं। योगाभ्यास करते हुए जो अन्तर्ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ वह इन्हीं ग्रन्थोंके रूपमें प्रकट हुआ है। अन्य ग्रन्थ भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके प्राण और महत्त्व, वेदोंका वास्तविक अर्थ,

मनुष्यजातिकी प्रगति, काव्यका स्वभाव और विकास, मनुष्यजातिके एकीकृत होनेकी संभावना, इत्यादि विषयोंपर हैं। इसी समय उन्होंने अपनी उन कविताओंको प्रकाशित किया जो उन्होंने इंगलैंडमें और बड़ौदेमें रहते हुए लिखी थीं और उन थोड़ी-सी कविताओंको भी जो उन्होंने राजनीतिक क्षेत्रमें काम करते हुए तथा पीछे पांडीचेरी आकर शुरू-शुरूमें बनायीं। 'आर्य' पत्र साढ़े छः वर्ष सतत चलकर सन् १९२१ में बंद हुआ।

पांडीचेरीमें श्रीअरविन्द पहले ४ या ५ अनुयायियोंके साथ, एकान्तमें ही रहे। पीछे उनका आध्यात्मिक पथ अनुसरण करनेके लिये और लोग आने लगे, आनेवालोंकी संख्या दिन-दिन बढ़ती ही गयी और यहाँतक बढ़ी कि जो साधक सब छोड़-छाड़कर परम जीवनके लिये यहाँ आये थे उनके जीवननिर्वाहार्थ तथा उनके मार्गपरिदर्शनार्थ साधकोंका एक संघ ही कायम करना पड़ा। यहींसे श्रीअरविन्दाश्रमकी बुनियाद पड़ी। यह आश्रम यथार्थमें बनाया नहीं गया, श्रीअरविन्दरूप केन्द्रकी परिधिमें अपने आप बढ़ा है।

श्रीअरविन्दने सन् १९०५ में अपना योगाभ्यास आरम्भ किया। भगवत्-सम्बन्ध और आत्मानुभवकी प्राप्तिके लिये भारतवर्षमें जो सम्प्रदाय अबतक प्रचलित हैं उनसे प्राप्त होने-

वाले आध्यात्मिक अनुभवके सारतत्त्वोंको उन्होंने पहले अपने योगाभ्यासमें संगृहीत किया और तब आत्मसत्ताके ही जो दो परस्पर विरोधी पहलू हैं अर्थात् चेतन (spirit) और जड (matter), इन दोनोंका समन्वय साधनेवाले, पूर्वकालकी अपेक्षा अधिक पूर्ण, अनुभवके अनुसन्धानमें प्रवृत्त हुए। योगके प्रायः सभी मार्ग भवसागरके पार आत्मसत्तातक पहुँचानेवाले और अन्तमें जीवनसे ही छुड़ानेवाले हैं। पर श्रीअरविन्द आत्मसत्तामें पहुँचकर वहाँकी आत्मज्योति, आत्मशक्ति और आत्मानन्द लेकर इहजीवनमें इसलिये उतर आते हैं कि इहजीवन भी बदलकर उस आत्मज्योति, आत्म-शक्ति और आत्मानन्दसे सम्पन्न हो। इस जड जगत्में मनुष्यका वर्तमान जीवन इस दृष्टिमें अज्ञानका जीवन है और इसका मूल अविद्या है, पर इस अन्धकार और अज्ञानमें भी परमात्मसत्ता छिपी हुई है और वह प्रकट भी हो सकती है। यह जो जगत् निर्माण हुआ है यह कोई भूल या व्यर्थ चेष्टा या भ्रम नहीं है जिसे जीव स्वर्ग या निर्वाण पदको लौटकर तिरस्कृत कर दे, प्रत्युत यह आध्यात्मिक विकासकी वह रंगभूमि है जिसमें इस अविद्या-मूलक जड जगत्से ही जड पदार्थोंमें परमात्मचैतन्यको क्रमशः अभिव्यक्त होना है। इस विकासक्रममें अबतक मनबुद्धि-तक ही विकास हो पाया है। पर जड जगत्का यही चरम

विकास नहीं है, इसके आगे अभी बहुत कुछ होना बाकी है। मनबुद्धिके ऊपर एक परात्परा प्रज्ञाशक्ति या विज्ञान है जो सनातन सत्यस्वरूप चैतन्य है। वह अपने स्वभावसे ही आत्मज्ञ है और परमात्मज्ञानकी स्वतःसिद्ध ज्योति और शक्ति है। मानव मनबुद्धि अज्ञानस्वरूप है और सत्यानुसन्धान किया करती है, पर वह परात्परा प्रज्ञाशक्ति स्वतःसिद्ध ज्ञान है जो अपने रूपों और शक्तियोंकी क्रीडा सुसमन्वित भावसे प्रकट किया करता है। मनुष्य-जातिके उच्चातिउच्च आशयमें जिस पूर्णत्वकी कल्पना होती है उसका प्रत्यक्ष होना इसी विज्ञानके अवतरणसे ही सम्भव हो सकता है। यह हो सकता है तभी जब मनुष्य महत्तर आत्मचैतन्यकी ओर अपने आपको खोल दे, इस ज्योतिर्मयी आनन्दमयी शक्तिकी ओर ऊपर चढ़े, अपने वास्तविक आत्माका पता पा ले, परमात्मासे सतत सम्बन्ध स्थापित करे और मन-बुद्धि-प्राण और शरीरको दिव्य बनानेके लिये इस महती परात्परा विज्ञानशक्तिको नीचे उतार लावे। इस सम्भावनाको सिद्ध कर दिखाना ही श्रीअरविन्दयोगका क्रियात्मक लक्ष्य है।

जीवनकला-योग

(१)

श्री अरविन्दने जब कहा कि 'हमारा योग हमारे लिये नहीं, प्रत्युत मनुष्यजातिके लिये है' तब बहुतोंके घबराये हुए प्राण स्वस्थ हुए, क्योंकि उन्हें अब यह आशा हुई कि श्रीअरविन्द-जैसे महान् पुरुष संसारके लेखे सर्वथा नहीं-से नहीं हो गये हैं, कुछ तो बचे हैं, नहीं तो (उनकी समझसे) डर तो यह था कि हिन्दुस्थानमें

जैसे अन्य अनगिनती संन्यासी बराबरसे ही होते आये हैं वैसे ही यह भी एक और हुए जिनसे न देशका कोई लाभ, न मनुष्यजातिका कोई उपकार !—देश और मनुष्यजातिको जाने दीजिये, उनका अपना ही कोई उपकार होता हो सो भी नहीं देखनेमें आता ! लोगोंने तो यह समझा था कि श्रीअरविन्दका योग एक आधुनिक चीज है और उसका लक्ष्य है मनुष्यजातिकी सेवा । उनकी आत्मस्थिति और आत्मसाधनाका सारतत्त्व चाहे मनुष्यजातिकी सेवा न हो, पर उसका फल, कम-से-कम, मनुष्यजातिकी सेवा तो है ही । इन लोगोंके विचारसे श्रीअरविन्दका योग कोई ऐसा कौशल था जिससे कुछ ऐसी अदृष्ट शक्तियोंका पता लगे, और उनसे काम लिया जाय, जोकि मनुष्य-जीवनको अच्छा करने और उसका दुःख दूर करनेमें केवल बौद्धिक और वैज्ञानिक पद्धतियोंसे अधिक काम कर जायँ ।

श्रीअरविन्दने यह देखा कि हमने जो कुछ कहा उसका मतलब तो ये लोग कुछ और ही लगा रहे हैं और असल चीजको ही भुला रहे हैं । इसलिये उन्होंने अपने शब्द बदल दिये और यह कहा कि 'हमारा योग मनुष्यजातिके लिये नहीं बल्कि परमात्माके लिये है ।' पर यह मालूम होता है कि श्रीअरविन्दकी यह बात लोगोंको अच्छी नहीं लगी, उन्होंने इसे पैतरा बदलना समझा और उदास हो

गये, क्योंकि अब तो यह आशा बिल्कुल ही जाती रही कि श्रीअरविन्द देश या संसारका काम करनेके लिये कभी लौटेंगे। अब तो यह समझा जाने लगा कि श्रीअरविन्द सांसारिक पदार्थोंकी मायासे बिल्कुल अलग 'वेदान्त' में डूब गये हैं और संसारके लिये वैसे शुष्क और नीरस हो गये हैं जैसा कि अक्षर ब्रह्म।

(२)

श्रीअरविन्दकी साधनाके लक्ष्यका ठीक-ठीक अनुमान करना हो तो यह अच्छा होगा कि हम उनके दिये हुए दोनों वचनोंको एक करके यह कहें कि उनका उद्योग मनुष्यजातिमें भगवान्को पाना और प्रकट करना है। यही सेवा है जो वह मनुष्यजातिकी करना चाहते हैं— अर्थात् मनुष्यजातिमें भगवान्को अभिव्यक्त और मूर्तिमान् करना। मनुष्य-जीवनका केवल दुःख दूर करना ही नहीं, बल्कि उसका सर्वथा परिवर्तन और रूपान्तर कराना, मनुष्य-जीवनको दिव्य बनाना ही उनका लक्ष्य है।

यहाँ भी सावधान रहना होगा, अन्यथा अनेक प्रकारके भ्रम हो सकते हैं। मनुष्य-जीवनको दिव्यत्व प्राप्त करानेका यह कोई खास मतलब नहीं है कि सारी मनुष्यजाति ही बदल जायगी और सब मनुष्य देवता हो जायँगे। इसका मतलब है विकास अर्थात् पृथ्वीपर श्रेष्ठ जातिके

मनुष्योंका प्रकट होना; ठीक वैसे ही जैसे पशुयोनिसे ही विकास होते-होते मनुष्य उत्पन्न हुआ जिसका यह मतलब तो नहीं होता कि सारी पशु-जाति ही मनुष्यजाति हो गयी— हुआ इतना ही कि पशु-जातिके रहते हुए पशु-जातिमेंसे ही विकासक्रमसे मनुष्यजाति उत्पन्न हुई और अब यह होनेको है कि मनुष्य-जातिके रहते हुए मनुष्यजातिसे श्रेष्ठ-तर मनुष्यजाति उत्पन्न होगी ।

यह जो कुछ होनेको है, इसके विषयमें श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह केवल हो सकनेकी बात नहीं है, होनेवाली है—इसका होना अनिवार्य ध्रुव सत्य है । यहाँ यह बात स्मरण रहे कि जिस शक्तिके द्वारा यह कार्य होगा और अभी इस समय हो रहा है वह कोई वैयक्तिक मानवशक्ति नहीं है, चाहे कोई मानवशक्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो; बल्कि वह शक्ति है स्वयं सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की— श्रीभगवान् ही स्वयं उस कार्यमें लगे हैं और इसीलिये वह कार्य होनेवाला है ।

श्रीअरविन्द-योगकी गूढ़ताका यही असली भेद है । श्रेष्ठतर अर्थात् दिव्य मनुष्योंका उत्पन्न होना चाहे कितना ही अद्भुत और आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता हो, पर बात यही है कि यह बात अब नित्यके व्यवहारमें आ चुकी है क्योंकि यह काम किसी मनुष्यके द्वारा नहीं हो रहा है

बल्कि स्वयं भगवान् अपनी पराशक्ति, परम ज्ञान और परम प्रेमके साथ इस कामको कर रहे हैं। श्रीअरविन्द-योगकी साधनाका सम्पूर्ण रहस्य ही यही है कि सामान्य मानवप्रकृति-स्वभावमें भगवान् उतर आवें—मानवप्रकृति-को शुद्ध करें, उसे दिव्य बनावें और उसमें निवास करें। साधकको और कुछ नहीं करना है, केवल शान्त और मौन होकर शान्तिसे भगवत्प्राप्तिके लिये उत्कण्ठित होना, भगवन्मुख होना, भगवदनुकूल होना और भगवद्दयाप्रवाह-को ग्रहण करना है; उसे स्वयं कुछ भी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, न कुछ उसे करना ही चाहिये बल्कि उसके मार्गदर्शक और प्रभु भगवान् ही उसके लिये सब कुछ करते हैं, और भगवान् जो कुछ करते हैं उसके वह केवल अनुकूल होता है। अन्य सब योगमार्ग अथवा पारमार्थिक पन्थ जो पूर्वकालमें हुए, उनका लक्ष्य देहात्म-भावका उत्थान होकर आत्मभावको प्राप्त होना और उसीमें मिलकर लय हो जाना रहा है। मनुष्यके प्राणमय कोषमें और मानवप्रकृतिके नित्य व्यवहारमें भगवान्‌का अवतरण हो और वहाँ उनका आसन जमे यह बात उनके विचारमें नहीं थी और यदि किसी अंशमें थी भी तो यह उनकी साधना और सिद्धिका मुख्य लक्ष्य नहीं था। और फिर जिस अवतरणकी बात यहाँ कही जा रही है वह किसी

प्रकारके दैवी या भागवत चैतन्यकी बात नहीं है, क्योंकि भगवच्चैतन्यके अनेक प्रकार हैं; यहाँ अवतरणसे अभिप्राय है अपनी शक्तिके साथ भगवान्के निज चैतन्यका अवतरण। कारण, भगवान्के निज चैतन्यके अवतरणके द्वारा ही इस युगका विकासात्मक रूपान्तर साधित हो रहा है।

इस अवतरणका यथार्थ स्वरूप क्या है, वह कैसे होता है, उसका कार्यक्षेत्र कौन-सा है, और उससे क्या-क्या होगा इत्यादि बातोंका ब्योरा मुझे यहाँ देना है। कारण, यह जो कुछ है, भगवदवतरण है। भगवज्ज्योति पहले बुद्धिमें आती है और वहाँ अपना शुद्धिकार्य आरम्भ करती है—यद्यपि सदा-सर्वदा ही सबसे पहले हृदयके अन्तस्तलमें ही भगवत्सत्ताका अनुभव होता है और वहींसे भगवत्कार्यके होनेमें अनुकूलता मिलती है और फिर बुद्धिके ऊपर कार्यारम्भ होता है; बुद्धिके ऊपर इसलिये कि बुद्धि ही सामान्य मनुष्यभावकी पराकाष्ठा है और भगवज्ज्योतिके प्रकाशके जो प्रवाह आते हैं उन्हें बुद्धि ही अधिक सुगमता और तत्परतासे ग्रहण करती है। बुद्धिसे यह प्रकाश छनकर चित्तकी नानाविध वृत्तियों और वासनाओं तथा जीवनकर्मों और प्राणकर्मोंके स्थूल जगत्में आता है; अन्तमें यह प्रकाश भौतिक देहके जड और तमसाच्छन्न जगत्में आता है, क्योंकि जड शरीरको भी तो

प्रकाशमय करके परम ज्योतिका ही आकार और प्रतीक बनाना है। मानवजीवन वह प्रासाद है जिसमें कितने ही कोठे और कितने ही खण्ड हैं और इस प्रासादके परम कुशल स्थपति और प्रभु स्वयं दयामय भगवान् हैं जो इस प्रासादको भगवत्सत्यकी परमानन्दलीला और परम सौन्दर्य-की अभिव्यक्तिके साँचेमें ढालनेके लिये ही दयाभावसे अवतरित हुआ करते हैं। पर यह बात ऐसी है कि इसे वही मनुष्य और भी अच्छी तरहसे सोच-समझ सकता है जो इस मार्गके रहस्यद्वारके अन्दर आ गया हो और दीक्षाके मुख्य अंग साध चुका हो।

दूसरी बात जो साधारण मनुष्यके मनको बेचैन कर देती है वह यह है कि यह सब आखिर कब होगा—अभी या एक सहस्र संवत्सरके बाद या किसी ऐसे भविष्यकालमें जिसकी गणना देववर्षोंसे की जाय? अथवा वह समय इतना दूर हो सकता है, जैसा कि दूरत्व-सादृश्यके लिये एक सज्जनने सूचित किया है कि, जितना कि सूर्यके ताप-रहित होकर ठण्डे हो जानेका समय। कार्यकी महत्ता और प्रचण्डताको देखते हुए यदि यह कहा जाय कि इसके लिये अनन्त काल हमारे सामने है तो कुछ भी अनुचित न होगा, और एकाध शत संवत्सर या सहस्र संवत्सर भी इतने बड़े कामके लिये कोई चीज नहीं है।

कारण, यह कार्य तो अतीतके असंख्य सहस्र संवत्सरोंके सञ्चितको मिटाकर एक बहुत दूर आगे बढ़ा हुआ भविष्य निर्माण करना है। तथापि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह कार्य भगवान्‌का अपना कार्य है और योगका अर्थ भी कार्य करनेकी वह एकायनीभूत संश्लिष्ट अवगुण्ठित पद्धति है जिससे वर्षोंमें होनेवाला काम एक मिनटमें हो जाय, इसलिये यह आशा की जा सकती है कि जिस कार्यकी यहाँ बात है वह कार्य होनेमें विलम्बकी अपेक्षा शीघ्रता ही अधिक है। यह जो कुछ होना है यहीं होना है और अभी होना है—इसी पार्थिव जीवनकी इस पृथिवीपर और अभी इसी जीवनमें, इसी देहके रहते हुए—फिर कभी या और कहीं नहीं। आखिर इसमें निश्चितरूपसे कितना समय लगेगा, इसका ठीक-ठीक उत्तर तो कई बातोंपर निर्भर करता है पर इसमें दस-बीस वर्ष इधर उधर हो जाना कोई बात नहीं है।

यह जो कार्य होगा सो कितना व्यापक होगा, विचारकी मुख्य बात यह नहीं है। कारण, विस्तार या फैलाव कोई चीज नहीं है, चीज तो चीज ही है। वह थोड़ी भी हो अर्थात् उसका क्षेत्र छोटा ही क्यों न हो, तो भी, कम-से-कम आरम्भके लिये, वह बहुत है यदि वह असली चीज है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

अब यदि कोई यह पूछ बैठे कि जो कुछ तुम कह रहे हो उसका प्रमाण क्या है, इस बातका क्या आश्वासन है कि यह भी एक प्रकारके मृगजलका पीछा करना नहीं है ? तो इसका उत्तर तो यही है कि चीनीकी मिठास चीनी जीभपर रखनेसे ही मालूम हो सकती है ।

(३)

अब अन्तमें इस लेखके नामकरणके सम्बन्धमें एक बात कहनी है; क्योंकि लोग पूछ सकते हैं कि क्या अध्यात्म-जीवन भी कोई कला है, आप इसे कलाओंकी पंक्तिमें कैसे बैठाते हैं ?

एक विशेष दृष्टिसे अर्थात् पदार्थमात्रकी वास्तविक अन्तस्सत्ताकी दृष्टिसे, अध्यात्मजीवन कम-से-कम सब कलाओंका मूल तो है ही, चाहे उसे सबसे श्रेष्ठ कला कहनेमें किसीको कोई संकोच भले ही होता हो । पदार्थ-मात्रके अन्तःस्वरूपको व्यक्त कर देना ही कलामात्रका हेतु है और पदार्थमात्रका अन्तःस्वरूप यथार्थमें उसकी अन्तरात्मसत्ता है । इसलिये अध्यात्मजीवन अर्थात् आत्मा-परमात्माके साथ चैतन्ययुक्त सम्बन्ध-स्थापनका अभ्यास कलाओंकी पावन पंक्तिमें अग्रपूजाका मान पाने योग्य है । फिर अध्यात्मजीवन सबसे श्रेष्ठ और सबसे कठिन

कला है, क्योंकि यह जीवनकी ही कला है। जीवनको ऐसा परम सुन्दर और दर्शनीय बना देना कि जिसके अङ्ग-अङ्गमें निर्मलता और पवित्रता झलकती हो, जिसकी छन्दोमय गति प्रमादरहित हो, रोम-रोममें जिसके शक्ति सञ्चरित हो रही हो, कान्ति जिसकी शुभ्रा ज्योतिसे सुरञ्जित हुई हो और गात्र जिसके आनन्दसे स्फुरित और उत्फुल्ल हो रहे हों—तात्पर्य, जीवनको ऐसा बनाना कि वह भगवान्की प्रतिमा हो, अध्यात्मजीवनका सबसे ऊँचा लक्ष्य है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो श्रीअरविन्द जिस अध्यात्मजीवनकी साधना करते हैं वह कला-सृष्टिकी सबसे बड़ी चीज है।

श्रीअरविन्दका पूर्ण योग

श्री अरविन्द क्या हैं और क्या करते हैं यह जानना मन-बुद्धिसे जितना सम्भव है उतनेके लिये तो अबतक प्रकाशित उनकी पुस्तकोंमें यथेष्ट सामग्री है। फिर भी बहुत-से लोग श्रीअरविन्दकी शिक्षा और आश्रमके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी भ्रान्त और विकृत धारणा बनाये हुए हैं, इसी कारण उन्होंने स्वयं इस विषयमें एक वक्तव्य

दिया है जो हालमें ही हिन्दी और बङ्गला अनुवादके साथ पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। श्रीअरविन्दके योगको समझनेमें लोग जो इतनी भूल करते हैं, उसका एक प्रधान कारण यह है कि भारतकी प्राचीन अध्यात्म-शिक्षाके ऊपर इस योगकी प्रतिष्ठा होनेपर भी यह एक नयी चीज है; योगसाधना—अध्यात्मसाधनासे आजकल लोग साधारणतः जो कुछ समझते हैं, श्रीअरविन्दकी साधना ठीक वही नहीं है।

सत्य एक है और सनातन है, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु उस एकके अनेक रूप हैं, बहुत-सी दिशाएँ हैं। वे सब रूप और दिक् एक ही युगमें, एक ही व्यक्तिके द्वारा सम्यक्‌रूपमें प्रचारित हों, एक ही धर्म-ग्रन्थमें सम्पूर्णरूपमें वर्णित हों, यह सम्भव नहीं। इसी कारण युग-युगमें अवतारों, महापुरुषों और विभूतियोंका आविर्भाव होता है, और वे देश और कालके प्रयोजनके अनुसार आवश्यक सत्यका प्रचार कर जाते हैं; उनकी उसी शिक्षाका अवलम्बन करके मानव-जाति अपने गन्तव्य पथपर अग्रसर होती है। गीतामें श्रीकृष्णने कहा है—'हे अर्जुन! मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं।' श्रीकृष्णने एक ही शिक्षा, एक ही भावका प्रचार करनेके लिये बार-बार जन्म ग्रहण किया हो, यह सम्भव नहीं। अतएव जो लोग

यह कहते हैं कि हमारे धर्मग्रन्थमें ही सब सत्य निहित है अथवा हम जिन अवतार, पैगम्बर या प्रॉफेटकी पूजा करते हैं, उनकी शिक्षाको छोड़कर और कुछ भी जानने, समझने, अनुसरण करने योग्य नहीं, वे निश्चय ही भूल करते हैं। यह सुखकी बात है कि आजकल मनुष्यसमाजमें इस प्रकारकी कट्टरता, सङ्कीर्णता, असहिष्णुता बहुत कुछ कम हो गयी है। जीव-जगत्‌में जैसे क्रमविकास होता है वैसे ही धर्मसाधना, अध्यात्मसाधनाके जगत्‌में भी एक क्रमविकास, क्रमविवर्तनकी धारा चलती है, यह बात आजकल प्रायः सभी लोग मानने लगे हैं। भारतमें इस साधनाका विकास किस प्रकारसे होता आया है, इसका पर्यालोचन करनेसे सम्भवतः श्रीअरविन्दकी शिक्षाका मर्म समझना अपेक्षाकृत सहज हो सकता है।

भारतमें अध्यात्मसाधनाका मूल सूत्र हाथमें आ गया था वेद और उपनिषद्‌के युगमें। वैदिक ऋषियोंने इस दृश्य जगत्‌के पीछे देवलोकको देखा था। देवताओंके साथ आदान-प्रदानका सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्यका जीवन दिव्य रूपमें परिणत किया जा सकता है और यही मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है—इसी सत्यको अवलम्बन करके भारतीय शिक्षा-दीक्षा और भारतीय साधनाका आरम्भ हुआ। इस सत्यकी दो दिशाएँ हैं—

पहली दिशा यह है कि मनुष्य इस समय जिस रूपमें जीवन-यापन कर रहा है, वह दुःख, द्वन्द्व, अशान्ति और मृत्युसे पूर्ण है, उससे अर्थात् 'मृत्युसंसारसागरात्' ऊपर उठना होगा। पर उठकर कहाँ जाना होगा? मनुष्य जिस भगवान्से आया है, जिसके अन्दर ही वह रहता है, जिससे मनसा वियुक्त होनेके कारण अनेक दुःखों और क्लेशोंको भोग रहा है, उसीके साथ ज्ञानपूर्वक युक्त होना होगा—उसकी ज्योति, शक्ति और आनन्दके अन्दर चिर-प्रतिष्ठित होना होगा। पहली बातके लिये चाहिये सांसारिक जीवनके प्रति तीव्र वैराग्य; दूसरीके लिये चाहिये भगवान्की उपासना। और ये दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, एकके द्वारा दूसरेको सहायता मिलती है। वैदिक युगमें इस साधनाके दो अङ्ग थे—ज्ञान और कर्म। क्रमशः ये दोनों अङ्ग दो साधन-पथोंके रूपमें परिणत हो गये। किसीके मतसे ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है और कर्म तो मनुष्यको सांसारिक जीवनमें बाँध रखता है। किसीके मतसे कर्मके द्वारा ही मनुष्य परमार्थ लाभ कर सकता है। गीतामें इन दोनों पथोंमें भेद दिखाया गया है—

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

वेदके युगसे आगे चलकर अध्यात्मसाधनामें एक और विशेषता उपस्थित हो गयी। वैदिक ऋषियोंने

चाहा था इस मानवजीवनको ही दिव्य रूपमें रूपान्तरित कर देना । किन्तु परवर्ती युगमें साधना-का लक्ष्य यह नहीं रहा । मानव-जीवन—संसार—दुःख-मय है; इससे किसी प्रकार बाहर निकलकर आत्माके अन्दर मोक्ष या निर्वाण लाभ करना ही साधनाका लक्ष्य बना । गीतामें इन सब विरोधी मतों और पन्थोंमें एक प्रकारका अपूर्व समन्वय किया गया है । गीतामें कहा है—ज्ञान और कर्म विरोधी मार्ग नहीं हैं । पक्षी जिस प्रकार उड़नेके लिये दोनों पङ्खोंकी सहायता ग्रहण करता है, मनुष्य भी उसी प्रकार एक ही कालमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयके द्वारा लक्ष्यकी ओर द्रुत गतिसे अग्रसर होता है । किन्तु गीतामें यह दिखाया गया है कि भगवद्भक्तिमें ही ज्ञान और कर्मकी पूर्णता होती है । कर्म, ज्ञान, भक्ति—इन तीनोंका समन्वय जिस साधनामें है, गीताके मतसे वही सिद्धि-प्राप्तिका उत्कृष्ट पथ है । गीता यह और कहती है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये मनुष्यको यह जीवन, यह देह छोड़कर कहीं जाना नहीं होगा, मृत्युके पूर्व, 'इहैव'—इसी शरीरमें मनुष्य भगवान्‌के साथ पूर्णरूपेण युक्त होकर उनका साधर्म्य प्राप्त कर सकता है । उस समय वह चाहे जहाँ रहे और चाहे जो करे, उसके पतनकी फिर कोई आशंका नहीं रहती—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

परन्तु भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेके रहस्यका विस्तार गीतामें नहीं किया गया है—उसका केवल संकेतमात्र है। उस समय लोगोंका झुकाव उपनिषद् और दर्शन-शास्त्रोंकी शिक्षाके फलस्वरूप संसार-त्याग, जीवन-त्याग, कर्म-त्यागकी ओर था, गीताने उसका प्रतिवाद करके जीवन और कर्मकी महिमाका प्रचार किया। अर्जुनने मोहके वश होकर कर्मका त्याग करके संन्यासका अवलम्बन करना चाहा था, उनका तीव्र भाषामें तिरस्कार करके ही गीतामें श्रीकृष्णकी शिक्षाका आरम्भ हुआ है। श्रीकृष्णने समझा दिया कि भीतरकी वासना, कामना, आसक्तिका त्याग ही वास्तविक वैराग्य और संन्यास है, इस कारण जीवन, कर्म, संसारके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु पहले बौद्धधर्मके प्रभावसे और पीछे आचार्य शङ्कर-द्वारा आपामर जनसाधारणके अन्दर बड़े जोरोंसे माया-वादका प्रचार हो जानेके कारण गीताकी यह शिक्षा भारतवासियोंके जीवनमें अपने प्रभावका पूर्ण विस्तार न कर सकी। अवश्य ही भारतके जातीय जीवनके गठनमें शङ्कराचार्यके उपकारका मूल्य बहुत अधिक है। बौद्ध-धर्मके प्रभावसे जिस समय भारतवासियोंकी आस्था वेद और उपनिषदोंपरसे उठ रही थी, उस समय आचार्य

शङ्करने उसका प्रतिरोध किया, भारतीय शिक्षा-दीक्षाकी मूल धाराकी रक्षा की और हिन्दूसमाज, हिन्दूधर्म जो अनेक भेदों और विवादोंसे विच्छिन्न हो गया था उसको उन्होंने सब मतों और उपासनाओंमें ऐक्य दिखाकर उस आसन्न-ध्वंससे बचाया, भारतके साधनागत ऐक्यको पुनः प्रतिष्ठित किया और उसके आगे बढ़नेका पथ परिष्कृत कर दिया। परन्तु बौद्ध-प्रभावको दूर करनेपर भी वह प्रभाव कुछ-न-कुछ रह ही गया। बौद्ध जिस शिक्षाका प्रचार करते थे, शङ्करके वेदोपनिषद् गीताके भाष्योंसे उसी शिक्षाका प्रचार हुआ—यह संसार माया है, मिथ्या है, इस संसारसे दूर हटकर आत्माके अन्दर, ब्रह्मके अन्दर लीन होना ही परम पुरुषार्थ है और इसके लिये ज्ञान ही श्रेष्ठ साधना है। यही शङ्करकी शिक्षाका मूल तत्त्व है और इसमें और बौद्धोंकी शिक्षामें मूलतः विशेष कोई अन्तर नहीं है। भारतवासियोंके जीवनपर शङ्करकी शिक्षाका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा, फिर भी सबने उनका मत नहीं ग्रहण किया। अनेक साधक महापुरुषोंने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही साधनाके रूपमें श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। इस भक्तिमार्गका चरम विकास हम देखते हैं श्रीचैतन्यमें। वैष्णव कविका गान है—

यदि गौरांग ना हत कि मेने हइत
केमने धरित दे रे?
श्रीराधार महिमा रससिंधु सीमा
जगते जानात के रे?

किन्तु यह जो भक्तिकी साधना है, इसका भी लक्ष्य है सांसारिक जीवनका परित्याग कर संसारसे ऊपर गोलोक अथवा वैकुण्ठमें जाकर श्रीभगवान्‌के साथ संयुक्त होना। प्राचीन कालसे भारतमें जो ये तीन प्रकारकी साधनाएँ चली आ रही हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंका लक्ष्य दुःखमय सांसारिक जीवनसे ऊपर उठकर ब्रह्ममें लीन होना अथवा भगवान्‌के साथ युक्त होना है। किन्तु इस पृथ्वीपर मानव-जीवनके अन्दर रहकर ही भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेका जो उपदेश हम गीताके अन्दर पाते हैं, अद्यावधि वह कहीं भी परिस्फुटित नहीं हुआ। इस विषयमें कुछ प्रयत्न हुआ था तान्त्रिक साधनामें। अध्यात्मजीवन प्राप्त करनेमें जो-जो बातें बाधक समझी जाती हैं, उन्हींका व्यवहार साधनामें सहायकरूपसे करके जीवनको दिव्यरूपमें पलट देनेका जो आदर्श तान्त्रिक साधनामें दिखायी पड़ा था, वह व्यभिचार और दुरुपयोगके कारण भारतके जातीय जीवनपर बहुत अधिक प्रभाव न डाल सका, यद्यपि इसके

सारतत्त्वने बहुत कुछ अंशमें बङ्गालकी शक्तिपूजाके अन्दर स्थान प्राप्त किया है।

भारतमें युग-युगमें इस प्रकार नाना प्रकारकी साधन-पद्धतियोंका अनुसरण किया गया है। जगत्‌में अध्यात्मसाधना-की ऐसी कोई धारा नहीं दिखायी पड़ती, जिसकी चरम परीक्षा इस भारतभूमिमें न हुई हो। इस प्रकार भारतमें अध्यात्मसाधनाका ऐसा उत्तम क्षेत्र और वायुमण्डल बन गया है कि पृथ्वीके और किसी स्थानमें ऐसा नहीं दिखायी पड़ता। परन्तु सब अध्यात्मसाधनाओंका मूल लक्ष्य संसारत्याग, जीवनत्यागकी ओर होनेसे ऐहिक जीवनमें भारतकी बड़ी क्षति हुई, जीवनसंग्राममें भारत अन्यान्य जातियोंसे बहुत पीछे रह गया; और इसी कारणसे भारतकी अध्यात्मसाधनापरसे बहुत लोगोंकी श्रद्धा ही उठ गयी। जिस समय भारत पाश्चात्य जातिके संस्पर्शमें आया, पाश्चात्य जातिने अपनी असीम कर्मशक्ति और वसुन्धराका भोग करनेकी दुर्निवार आकांक्षाके बलसे भारतपर अपना आधिपत्य स्थापित किया, उस समय भारतके बहुत-से लोग उसी आदर्शकी ओर झुक पड़े, और सब विषयोंमें पाश्चात्य जडवादी सभ्यताका अनुसरण करनेके आग्रहके कारण आत्मविस्मृत हो गये। भारतके लिये वह बड़े ही सङ्कटका युग था—राजनीतिक क्षेत्रमें भारत पराधीन था,

अध्यात्मसाधनाके क्षेत्रपर भी नाना प्रकारसे ग्लानि छायी हुई थी, बाह्याचार और प्रचलित रूढियोंको ही लोगोंने धर्म और आध्यात्मिकताकी सीमा मानकर अन्धभावसे पकड़ रखा था। इससे जीवनके सब क्षेत्रोंमें अधःपतन और मृत्युके लक्षण दिखायी पड़ते थे और दूसरी ओर पाश्चात्य जातिका तीव्र जीवन्त आदर्श चमक रहा था। उस आदर्शकी ओर झुक पड़नेके कारण जिस समय अपना स्वधर्म छोड़ने और परधर्म ग्रहण करनेका आग्रह इस देशमें बढ़ रहा था, उसी सन्धिक्षणमें परमहंस श्रीरामकृष्ण आविर्भूत हुए। उन्होंने अपने जीवनमें सब प्रकारकी साधन-पद्धतियोंकी सत्यता प्रत्यक्ष करके यह दिखा दिया कि भारतकी अध्यात्मसाधना मिथ्या, धोखेबाजी या कपट नहीं है, इसके अन्दर असीम शक्ति निहित है, इसीके द्वारा मनुष्य अपने जीवनको सार्थक कर सकता है। पाश्चात्य रंगकी बाढ़में भारत जिस समय डूबा हुआ था, उसी समयमें श्रीरामकृष्णके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द भारतका रंग लेकर पाश्चात्य सभ्यताके मर्मस्थलमें जा धमके। बहुत कालके बाद पुनः भारतकी विजय-यात्रा आरम्भ हुई। यह जो स्वामी विवेकानन्दने प्रत्याक्रमणसे पाश्चात्य सभ्यताके आक्रमणका उत्तर दिया, उसी दिनसे भारतके नवयुगका सूत्रपात हुआ, भारत पुनः अपनी

वास्तविक शक्तिकी खोजमें प्रवृत्त हुआ, भारतकी अध्यात्म-साधना नवीन गौरवके साथ संसारवासियोंके सामने उद्भासित हुई।

श्रीरामकृष्णने यह दिखाया कि ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, यहाँतक कि ईसाई-धर्म, मुसलमान-धर्म आदि सब साधनाओं और सब धर्मोंमें सत्य है, मूलतः इनके अन्दर कोई भी विरोध नहीं। जितने मत हैं उतने मार्ग हैं—सब मार्गोंसे उसी एक गन्तव्य स्थानपर पहुँचा जाता है। श्रीरामकृष्णने सब साधनाओंका मूलगत ऐक्य दिखा दिया, पर उस ऐक्यके आधारपर अवलम्बित, सब साधनाओं-की मूल शक्तिका आश्रय करनेवाला जो सर्वयोगसमन्वय-साधन है, वह श्रीअरविन्दकी साधनामें परिस्फुटित हुआ है। और इसमें केवल साधन-पद्धतिका ही नहीं, अध्यात्म-साधनाका जो लक्ष्य है, उसका भी पूर्ण समन्वय साधित हुआ है। मनुष्य अभी जैसा जीवन व्यतीत करता है, उसको छोड़कर ऊपर उठना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि मानव-जीवन, मानवजन्मका ही त्याग करके निःस्पन्द, निश्चल ब्रह्मके अन्दर लीन होना होगा। यह संसार मिथ्या, माया है, 'भगवान्‌की भूल' है—ऐसा तो श्रीअरविन्द नहीं कहते। मनुष्यके अन्दर जो देवत्व निहित है, उसको देह, प्राण, मनमें पूर्ण विकसित करना होगा, मानवजीवनको दिव्य

जीवनमें रूपान्तरित करना होगा; जरा, व्याधि, मृत्युको जीतकर अमृतत्व लाभ करना होगा, यही मानवजन्मका प्रकृत अर्थ है और यही सब अध्यात्मसाधनाओंका वास्तविक लक्ष्य है । किन्तु मनुष्य जबतक मनके स्तरमें ही अटका है तबतक उसका यह रूपान्तर सम्भव नहीं । उच्च जीवन प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको अहंभावका त्याग करना होगा, वासना-कामनाका त्याग करना होगा, परन्तु मनके क्षेत्रमें रहकर ऐसे त्यागकी पूर्णताका अर्थ होता है आत्माके अन्दर अपना निर्वाण कर देना—संसार, जीवन, कर्म आदिका कुछ भी न रह जाना । यदि अहंभावको रखते हैं तो उसका अर्थ होता है ऐसे जीवनके जो चिरसंगी हैं—अर्थात् त्रुटि ग्लानि दुःखादि द्वन्द्व और जरा और मृत्यु—उन्हें पाल रखना । इस प्रहेलिकाका समाधान करते हैं श्रीअरविन्द एक पर-तत्त्वके प्रकाशमें जिसका नाम उन्होंने Supermind (विज्ञान) रक्खा है । मनुष्यके अन्दर जबतक उस 'अतिमानस' विज्ञान-सत्ताका आविर्भाव नहीं होता तबतक मानव-जीवनको दिव्य रूपमें रूपान्तरित करना सम्भव नहीं । मन-बुद्धिकी शक्तिसे मनुष्य कितनी दूर ऊपर उठ सकता है, उसके उत्कृष्ट दृष्टान्त इस युगमें महात्मा गांधी हैं । वह सत्य,

अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कुछ आदर्शोंको ग्रहण कर उनके अनुसार जीवनको गठित करनेकी साधना करते हैं। पर अपनी आजीवन साधनाके फलस्वरूप वह अबतक इसी सिद्धान्तपर पहुँचे हैं कि देहधारी मनुष्य कभी इन सब विषयोंमें पूर्ण सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मृत्युकी अन्तिम घड़ीतक अत्यन्त सावधानीके साथ इन सब नियमोंका पालन करते रहना चाहिये, नहीं तो किसी क्षणमें शिथिलता आ जानेपर सब साधना नष्ट हो सकती है। किन्तु इस प्रकार सर्वदा सजग होकर पहरा देते हुए कितने आदमी रह सकते हैं? इसीसे अध्यात्म-साधनाका लक्ष्य है इस अवस्थाके भी ऊपर उठकर ऐसी अवस्था प्राप्त करना जहाँसे फिर किसी तरह पतन न हो। श्रीरामकृष्णने एक सुन्दर दृष्टान्त देकर यह समझाया था। पीतलका बर्तन सर्वदा यदि माँजा-धोया न जाय तो मैला हो जाता है, पर उसको सोनेमें पलट देनेपर फिर मैला होनेका भय नहीं रहता। मनुष्यजीवनरूप पीतलका बर्तन जिस विधिसे सोनेमें परिणत किया जा सकता है, वही श्रीअरविन्दका पूर्णयोग है। केवल मनुष्यकी चेष्टासे ऐसा होना सम्भव नहीं है। मनुष्य साधनाके द्वारा अपनेको केवल उस रूपान्तरके योग्य बना सकता है, रूपान्तरके लिये ऊपरसे पारसमणिका ही स्पर्श होना चाहिये। श्रीअरविन्द-

ने योगलब्ध दिव्यदृष्टिसे देखा है कि वह स्पर्श ऊपरसे उतर रहा है, मानव-जीवन जिस शुभ मुहूर्त्तमें दिव्य जीवनके रूपमें, स्वर्णमें परिणत होगा, वह निकट है। मनुष्यको अपने अन्दर केवल उस स्पर्शको प्राप्त करनेकी अभिलाषा जागरित कर रखनी होगी, उस स्पर्शको ग्रहण करनेके लिये देह, प्राण, मनको प्रस्तुत कर रखना होगा। किस रूपमें उस परम रूपान्तरके लिये अपनेको प्रस्तुत किया जा सकता है, यही हम श्रीअरविन्दके चरणोंमें बैठकर सीख रहे हैं।

नवस्वरूपदर्शन और बोध

इस समय जब कि हमलोगोंमेंसे बहुतोंने भारतवर्षके प्राचीन वैदिक योगको श्रद्धा और विश्वासकी दृष्टिसे देखनातक छोड़ दिया है, और बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जो उस योगका वास्तविक रीत्या साधन करते हों, श्रीअरविन्द उसी योगका उद्धार कर उसकी पुनः स्थापना कर रहे हैं। संसार तो आज मन-बुद्धिके चलाये चलता है और मन-बुद्धिके चलाये चलनेवाले ऐसे विद्वान् बुद्धिमानोंमें

यह सामर्थ्य नहीं है कि आत्मतत्त्वकी गुहामें पहुँचकर प्रत्यक्ष ब्रह्मसंस्पर्श कर सकें। संसारके जो बड़े-से-बड़े तत्त्वज्ञ हैं वे इतनेसे ही सन्तुष्ट हैं कि ईश्वरकी बौद्धिक भक्ति करें, एक ऐसा सर्वाधार आत्मतत्त्वका भान करें कि उससे इन्द्रियोंका पूर्ण संयम हो और अपार अतीन्द्रिय महासुखकी उपलब्धि हो। यह बात तो बड़े जोरके साथ कही गयी है कि एक ऐसी स्वतःसिद्ध अन्तर्ज्ञान (Intuition) है जिससे मनुष्यको सत्यका साक्षात्कार होता है। परन्तु इस सम्बन्धमें बड़े-बड़े मान्य विद्वान् भी बहुत गहराईमें नहीं जा सके हैं। कदाचित् इतनेसे ही उनका कार्य समाप्त होता हो कि एक ऐसी विचार-धारा उत्पन्न और प्रवाहित करें जिसके अन्तमें यह स्वीकार करना पड़े कि सत्य जो कुछ है उसके मर्मस्थानतक पहुँचना बुद्धि या विचारका काम नहीं है, वहाँ तो स्वतःसिद्ध अन्तर्ज्ञानका ही आश्रय लेना पड़ता है। प्लेटो, प्लाटिनस, स्पिनोजा, ब्राडले आदि पाश्चात्य तत्त्वज्ञोंने अपने तत्त्वज्ञानको इसी सिद्धान्तमें आकर समाप्त किया है। भारतवर्षमें शङ्कर और रामानुजने अपने परिज्ञानको और आगे बढ़ाया पर अन्त इसी बातमें किया कि सत्यके वास्तविक स्वरूपकी उपलब्धि बौद्धिक या रसबोधक स्वतःसिद्ध अन्तर्ज्ञानसे ही हो सकती है।

परंपरागत योग

भारतवर्षमें योग चित्तशुद्धि और चित्तवृत्ति-निरोधका उपाय माना गया है, इसीसे आगे ज्ञान प्रकाश होता है। भारतवर्षमें तत्त्वज्ञान कभी बुद्धिसे परिसीमित नहीं हुआ, बल्कि उत्तमोत्तम सिद्धियोंके लिये सूक्ष्माति-सूक्ष्म स्वतः-सिद्ध ज्ञानवृत्तियोंका ही आश्रय लिया गया है। अर्थात् आत्मविकास और आत्मसंयमके साधनकी कलाके तौरपर ही योगतत्त्व ज्ञानसे सम्बद्ध रहा है। सम्यक् ज्ञान सम्यक् आचरणपर निर्भर करता है। बौद्धाचार्योंने इसके तीन पाद माने हैं—सदाचरण, ध्यान और ज्ञान। सच्चा ज्ञान सच्चे आचार-विचार और व्यवहारसे प्राप्त होता है। जीवन और ज्ञानका परस्पर जैसा अविच्छिन्न सम्बन्ध है उसे समझनेमें हमलोगोंको गलती नहीं करनी चाहिये।

सामान्यतः योगके विषयमें यह धारणा है कि योग सदाचारकी एक कला है जिससे चित्तवृत्ति-निरोध होता है और छिपी हुई सूक्ष्म सिद्धियाँ खुल जाती हैं और फिर सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। भारतीय तत्त्वज्ञानमें बुद्धि वह वृत्ति है जिससे हमें ज्ञान और शक्ति प्राप्त होती है। पातञ्जल योगमें बुद्धिकी ऐसी सूक्ष्म शक्तियाँ मानी गयी हैं जिनसे सूक्ष्म प्राणशक्ति और विश्वशक्तियोंको पाकर साधक उन्मादको प्राप्त होता है और तब वह ज्ञानके उच्च स्तरपर

नहीं चढ़ सकता। बौद्ध सिद्धान्तमें और वेदान्तमें भी जीवनके व्यावहारिक शक्तिपक्षकी सर्वथा उपेक्षा की गयी है। तन्त्रशास्त्रमें शक्तिपक्ष माना गया है, क्योंकि जीवनमें शक्तिकी बहुत कालतक उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेदान्तमें कदाचित् इस विचारसे शक्तिपक्षकी उपेक्षा की गयी कि शक्ति तो शिवसत्यकी विकेन्द्रित विकृति है और यही जीवको अखण्ड अनन्त विज्ञानसे अलग करती है। वेदान्त नाम-रूपात्मक अभिव्यक्तिगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदको भी पार कर जाता है और परम ज्ञानसे सन्तुष्ट होकर श्रीभगवान्‌की व्यक्त लीलामें कुछ भी सारतत्त्व नहीं देख पाता। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि सत्स्वरूप आत्मा और भूतस्वरूप जगत्‌में इतना प्रभेद है कि आत्म-साक्षात्कार करानेवाले योगको ऐसा ही माना गया है कि योग वह साधन है जिससे सब प्रकारकी विभूतियों और नानाविध विभेदोंके परे पहुँचनेमें आता है। और जहाँ (जैसे वैष्णव सम्प्रदायमें) आत्माकी ऐसी विभूतिमत्ता मानी भी गयी है कि इससे परमानन्द और परम भानमें जीवन अर्थात् मन और प्राण भी आत्मानन्दसे ओतप्रोत हो जाते हैं, वहाँ भी पार्थिव और आत्मिकके बीच भेदकी दीवार तो ज्यों-की-त्यों खड़ी ही है।

सम्पूर्ण मनुष्यजातिकी आत्मिक स्पृहा यही रही है कि दिव्य स्वर्गीय जीवन प्राप्त हो और यह संसार और

इसका पार्थिव जीवन ऐसा ही पड़ा रहे, प्रकृतिके नियमोंके अनुसार इसमें जो व्यक्त होना हो वह होता रहे। संसारके धर्मजीवनके इतिहासमें ऐसे भी लोग हो गये जिनका यह स्वप्न था कि पृथ्वीपर स्वर्ग उतर आये, पर चैतन्य और जडमें जो द्वैत है वह इतना विषम है कि उनका स्वप्न कभी पूर्णतया सत्य नहीं हुआ। बीच-बीचमें पार्थिव चैतन्यमें विशुद्ध आत्म-चैतन्यका अवरोह हुआ है, होता रहा है। जब कभी मानवी संस्कृतिके परिवर्तन और मानवी आरोहणेच्छाके द्वारा श्रीभगवान्‌को कोई विश्वकार्य साधना होता है तब ऐसा अवरोह होता है। पर यह नैमित्तिक है, विशेष-विशेष अवसरपर श्रीभगवान्‌का यह दिव्य हस्तक्षेप है। इससे पार्थिव चैतन्यमें कोई उद्वर्त्तन नहीं हुआ, वह अज्ञानके चक्रमें जैसे पहले था वैसा ही आज भी है। जहाँ कहीं अज्ञान नहीं रहा, वहाँ पार्थिव जीवन भी परमानन्द या पराशान्तिमें मिलकर समाप्त हो गया।

एक नूतन अध्याय

ठीक इसी मौकेपर श्रीअरविन्द एक नवीन भावना संसारमें ले आते हैं और आध्यात्मिक जीवनमें एक नवीन अमर आशा सञ्चारित कर देते हैं। श्रीअरविन्द बतलाते हैं कि जीवन, विज्ञानके अवतरणसे पूर्ण तथा दिव्य विज्ञान-मय बन सकता है। उन्होंने उस सशक्तिक भगवच्चैतन्यका

पता पाया है जो पार्थिव जीवनको बदलकर दिव्य बना सकता है। इस दिव्यीकरणका अभिप्राय वैयक्तिक या सामाजिक जीवनमें नैमित्तिक या तात्कालिक भगवद-वतरण नहीं है। इसका अभिप्राय है वैयक्तिक और मानव-जातीय जीवनमें भगवत्तत्त्वकी चिरस्थापना। आध्यात्मिक विभवक्षमताके विषयमें श्रीअरविन्दका यह नवीन अनु-सन्धान और दर्शन है।

मनुष्यजाति जीवन-सम्बन्धी अपने मनकी बँधी गतोंसे ग्रस्त है। जीवनमें चाहे जो हो सकनेकी जो अनन्त क्षम-ताएँ हैं उन्हें वह हर समय नहीं समझ सकती। आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानमें श्रीअरविन्दका यह नवीन सूत्राध्याय है जिसमें ऐसी शक्तियाँ संगृहीत हैं जिनका अबतक पता नहीं था। मनुष्य जातिकी मनोभूमिने अबतक चिच्छक्तिका पूर्ण विचार ही नहीं किया है। मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंमें जीवनकी जो गति देखनेमें आती है उसीके आधारपर मानसशास्त्र चलता है। कारणानुसन्धित्सु मानसशास्त्र जीवन और चैतन्यकी गतिके विषयमें कुछ नयी बातें ढूँढ़ निकाल रहा है तथापि मानसशास्त्रके अध्ययनसे कोई ऐसी सहायता नहीं मिलती जिससे मनुष्यके हृज्जीवनका यथावत् विश्लेषण किया जा सके। मानस-अनुसन्धान बुद्धिके परे अधिमानस या विज्ञानमय शक्तिके किनारे भी

नहीं पहुँचा है। इन दिव्य आलोक-लोकोंकी अनुभूति या उपलब्धि तब होती है जब हमारी प्रकृतिमें चिज्जीवन और सर्वविधसमन्वयसाधक चिदाश्रय स्थिररूपसे स्थापित हो। आध्यात्मिक मनोविज्ञानमें श्रीअरविन्द-ने यह नया अध्याय जोड़ा है, क्योंकि उन्होंने यह अनुभव किया है कि मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन, प्राणके एक-एक अणुकी वृत्तिसे लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म आध्यात्मिक वृत्तितक, सीधे भागवत-विज्ञानशक्तिके जीवनके साथ सुसम्बद्ध है। अयथा तत्त्वज्ञान और अधूरे मानसशास्त्रने बीचमें जो रुकावटें डाली हैं वे यदि दूर की जा सकें तो विज्ञानमय शक्ति-शिखरसे लेकर नीचे पार्थिव चैतन्यतक विज्ञानमयी शक्तिके प्रवाहित होनेके लिये सीधे मार्ग साफ दिखायी दे सकते हैं। मनुष्यका शरीर और मन मनुष्यके लिये क्लेशका ही कारण होता है, क्योंकि इस विज्ञानमय शक्ति-शिखरसे मन-बुद्धि और शरीरतक उस दिव्य जीवनधाराका सतत प्रपात होने नहीं पाता। वह विज्ञानमय शक्तिप्रवाह वहाँसे तो अपने आप होता और सतत रहता भी है; पर हमारे अज्ञान, आलस्य और अहङ्कार इस प्रवाहको ग्रहण नहीं करने देते। मनुष्यका अन्तःकरण यदि ठीक तरहसे खुल जाय और वह हृदयसे आरोहणकी सतत इच्छा करे तो उसका अन्तःकरण दिव्यशक्तिसे भर जाता है और यह दिव्यशक्ति उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गको अधिकृत करती तथा उसे

अपने साँचेमें ढालकर उसे दिव्य जीवनको अभिव्यक्त करनेका उपयुक्त साधन बना देती है। इस विज्ञानमय दिव्य भागवती शक्तिके सीधे उतर आनेसे विकास उच्चतर स्तरको प्राप्त होता है।

विज्ञानकी शक्तिमत्ता

श्रीअरविन्द आध्यात्मिक जीवनकी शक्तिमत्तापर बहुत जोर देते हैं और इसमें स्वतःसिद्ध अन्तर्ज्ञानके जो अनेक स्तर हैं उन्हें उन्होंने ढूँढ़ निकाला है। आजके पाश्चात्य तत्त्वविचारमें ऐहिक जीवनकी शक्तिमत्ताका आदरयुक्त उल्लेख बर्गसन और हालडेनके ग्रन्थोंमें हुआ है; परन्तु शक्तिविषयक इनकी दृष्टि बहुत कुछ प्राणशक्तिमें ही आबद्ध है और इनकी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राणगत ज्ञानवृत्तिके परे नहीं पहुँच सकी है। इनका कहना है तो धर्मकी भाषासे युक्त ही, पर इनके विचारकी परिसीमितता ऐसी है कि ये जीवनकी विज्ञानमयी क्षमताओंतक अपना ध्यान नहीं पहुँचा सके। यहाँ यदि किसीकी प्रतिभा चमकी है तो वह श्रीअरविन्दकी ही है। इन्होंने प्राण, मन, बुद्धि, अधिमानस, विज्ञान और परात्पर परब्रह्ममें स्थित विशाल ज्ञानालोक ढूँढ़ निकाले हैं। श्रीअरविन्दका यह अनुसन्धान है कि मायिक शक्ति अधिमानस (over-mind) की प्राप्तिके साथ रुक जाती है और तब इसी संसारमें परमा शान्तिका अनुभव होता है

क्योंकि वहाँ त्रिगुणात्मिका मायासे मनुष्य मुक्त हो जाता है। श्रीअरविन्द यहीं आकर रुक नहीं जाते। वे इस शान्तिके परे पहुँचकर परात्परा विज्ञानमयी शक्तिके क्षेत्रमें प्रवेश करते हैं जहाँ विज्ञानमयी परात्परा शक्ति अपने आपको विज्ञानमय परात्पर विश्वके रूपमें प्रकट करती है। इसके भी परे सत् चित् आनन्दका परम भाव अभिव्यक्त है। श्रीअरविन्द यह बतलाते हैं कि सूक्ष्मशक्ति अधिमानस लोकतक स्थूलशक्तिसे समाच्छन्न है और उसके परे विज्ञान-शक्ति और परात्परा शक्ति अवस्थित हैं। विज्ञानशक्ति पृथ्वीतक उतर आ सकती है और हमारे स्वरूपको सर्वथा रूपान्तरित कर सकती है। अधिमानसशक्ति मायाशक्ति है, उसमें यह क्षमता नहीं। कारण मायाकी सृष्टि परस्पर विरोधोंकी सृष्टि है। पर विज्ञानशक्तिकी यह बात नहीं है। यह अमर जीवन, समन्वय, सामंजस्य और सामर्थ्यकी शक्ति है। यह संसारके आत्मबोधमें उतरकर सांसारिक जीवनको रूपान्तरित कर सकती है। विज्ञानसे शक्तिके सीधे प्रवाहित होनेसे जीवन और आत्मबोध विज्ञान-रूपमें परिणत हो सकता है। इसके परे सत्-चित्-आनन्दके परात्पर परमात्म-स्वरूपके त्रिविध भावका जो परमाभिव्यञ्जन है उसका पार्थिव चैतन्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और न उसके साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ा ही जा सकता है। विज्ञानशक्तिका अवतरण

पृथ्वीको रूपान्तरित करके दिव्य बनानेके लिये तथा हमारे पार्थिव चैतन्य और विज्ञानशक्तिके उत्तुङ्ग शिखरके बीचकी खाई भरनेके लिये पर्याप्त है ।

श्रीअरविन्दका योग वास्तवमें वह आध्यात्मिक कला है जिससे विज्ञानशक्ति मन-बुद्धि, प्राण और भौतिक शरीरमें अधिमानसके रास्ते उतर आ सकती है और इसलिये यह योग, मनुष्यके पार्थिव जीवनको दिव्य बनानेकी ऊपर उठनेवाली दिव्य इच्छाके साथ मिलनेके लिये विज्ञान-शक्तिका नीचे उतर आना ही है । अबतक यह बात नहीं हुई, इसका कारण यह है कि विज्ञानशक्तिका ही अबतक पता नहीं था और इसलिये यह भी पता नहीं था कि इसमें क्या-क्या क्षमताएँ हैं । यह काम स्वभावतः ही बड़ा कठिन है, क्योंकि प्राणशक्तियाँ, करणदेवता, सृष्टिचक्रका नियमन और शासन करनेवाली मूलशक्तियाँ इस कामके होने देनेमें सब प्रकारकी रुकावटें डालती हैं और परा-शक्तियोंके विरुद्ध ताल ठोंककर खड़ी होती हैं । परन्तु विज्ञानशक्ति इनके प्रभावको मेटनेमें पूर्ण समर्थ है यदि जीवकी आरोहणेच्छा सही और सच्ची हो । प्राचीन योगमार्गोंमें चित्तशुद्धिको जो प्राधान्य दिया गया है वह ठीक ही है; पर इस योगमें चित्तका चैत्य पुरुषद्वारा, अधिमानसद्वारा और फिर विज्ञानशक्तिके द्वारा स्वीकरण आत्मानुभूतिका साधनसोपान है ।

श्रीअरविन्द-योगकी शक्ति

मनुष्योंमें जो अन्तरात्मा है वह प्रायः ही छिपा रह जाता है। इस योगमें, पूर्ण समत्व स्थापित होनेपर सबसे पहला साधन चित्तका चैत्यपुरुषाधिकृत होना है। इससे वह पारदर्शिता और वह आध्यात्मिक अधिकार प्राप्त होता है जिससे हमारे अन्दर काम करनेवाली सूक्ष्म शक्तियाँ केन्द्रीभूत होने लगती हैं। चैत्यपुरुषाधिकृत होनेके पश्चात् अन्तःकरण आत्मस्थित होता है, क्योंकि तभी अधिमानस-शक्तिके लोकसे होनेवाले आत्मस्पन्दन हमें प्राप्त होते हैं। तभी साधक अधिमानसशक्तिके रहस्योंको, विश्वजीवनको और विश्वव्यापकताको अनुभव करने लगता है। अधि-मानसके उत्तुङ्ग लोकमें वह विशाल ज्ञानालोक प्राप्त होता है जो प्लेटोके अतीन्द्रिय जगत् और वेदान्तके हिरण्यगर्भ-लोकके परे है। मायामय मार्गसे होकर जो आरोहण किया जाता है उसमें यही सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति है, इसके मध्यमें वह विश्वव्याप्त मौन है जिसमें गुणगण समत्वको प्राप्त होते हैं। जब यह मौन सिद्ध होता है तब विज्ञान-मय जीवनकी और भी सूक्ष्म धाराएँ खुल पड़ती हैं। जब आत्मस्वरूपबोध इतना सूक्ष्म हो लेता है कि विश्वकी व्यापकता और पूर्णताके परे पहुँच सके तो उसमें यह सामर्थ्य आती है कि विज्ञानशक्तिकी जीवनधाराओंको अनुभूत

कर सके, क्योंकि यही अन्तस्तम तत्त्व है जो सभी लोकोंमें अनुविष्ट होता है। जब आरोहणेच्छु पुरुष विज्ञानशक्तिकी जीवनधाराको पकड़ लेता है तब वह विश्वसत्ताके परे पहुँचता है और तब वह ऐहिक जीवनको विज्ञानशक्तिद्वारा स्वीकृत करानेमें प्रवृत्त हो सकता है और इस पृथ्वीमें वह जीवनतत्त्व प्रविष्ट करा सकता है जो परस्पर विरुद्ध धर्मोंसे विमुक्त है। और यही वास्तविक दिव्य भागवत जीवन है। विज्ञानशक्तिद्वारा स्वीकरणसे केवल उस शक्तिकी अनुभूतिका ही मतलब नहीं है, बल्कि उसका सीधे पार्थिव जीवनमें उतर आना और पार्थिवको पूर्ण रूपान्तरित करके दिव्य बनाना है। श्रीअरविन्दने वह मार्ग ढूँढ़ निकाला है जिससे पार्थिव जीवन क्लेश और दुःखसे विमुक्त होकर सदाके लिये आत्मानन्द और आत्मशक्तिसे भर जाय। यही उनकी प्रतिज्ञा है और उन्हें अब यह विश्वास हो गया है कि वह विज्ञानशक्ति अब उतरनेवाली है। उनका योग केवल आध्यात्मिक जीवनमें ही काम देनेवाला नहीं है बल्कि उससे ज्ञानके विभिन्न विभागोंमें भी क्रान्ति होनेवाली है। उस योगकी पूर्ति होनेपर इसके द्वारा मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, जीवविज्ञान, गर्भजीवविज्ञान और भूत-विज्ञानमें नये सिद्धान्त स्थापित होनेवाले हैं। उत्क्रान्तिवादके सिद्धान्तका स्वरूप ही इससे बदल जानेवाला है। इससे

काव्यमें नये अलङ्कार और कलामें नये आदर्श उत्पन्न होनेवाले हैं। भावाभिव्यञ्जनके जो-जो रास्ते हैं उनमें भागवतशक्ति अनुविष्ट होगी और तत्त्वज्ञान, कला और सायन्स वास्तवमें रूपान्तरित होकर दिव्य बनेंगे। विचार-शक्तिमात्रसे अघटन-घटन होगा, क्योंकि पृथ्वीकी जडता नष्ट होगी और विज्ञानशक्तिके किरण हमारे अन्तर्बाह्य सब करणोंमें कार्य करनेवाले प्रत्यक्ष कारण होंगे।

प्रयोग करके प्रत्यक्षदर्शी वैज्ञानिककी तरह ही पूर्ण विश्वासके साथ श्रीअरविन्द अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रहे हैं और दीर्घकालसे दुःखसागरमें डूबी हुई मनुष्य-जाति उन्हें उस नवीन युगका अवतार माननेमें न चूकेगी जिस युगमें ईसाका यह वचन कि हे भगवन्! तुम्हारा भगवद्राज्य पृथ्वीपर उतर आये, पूरा होनेवाला है।

श्रीअरविन्द और उनका 'सम्प्रदाय'

श्रीअरविन्द पाण्डीचेरीमें अपने एकान्तवासमें क्या कर रहे हैं इस विषयमें कुछ खास लोगोंमें बहुत बड़ा अयथा और मिथ्या ज्ञान फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त, एक सुप्रसिद्ध देशभक्तने तो अपने हालके एक भाषणमें श्रीअरविन्दके 'पाण्डीचेरी-सम्प्रदाय' की कल्पना भी की है और उस कल्पित सम्प्रदायका खण्डन करते हुए बड़े कटे-छटे शब्दोंमें सुस्पष्ट रीतिसे विवरण देकर यह बता दिया है कि श्रीअरविन्द क्या कर रहे हैं। पर यह जो

कुछ उन्होंने खुल्लमखुल्ला और निर्भय होकर कहा है वह ठीक वही है जो कुछ कि नहीं है; जो-जो बातें वे कह रहे हैं कि श्रीअरविन्द कर रहे हैं वे ठीक वे ही बातें हैं जो श्रीअरविन्द नहीं कर रहे हैं। पहली बात यह कि श्रीअरविन्द 'शान्तिसे बैठे ध्यान' नहीं कर रहे हैं; दूसरी बात यह कि वे कोई प्रचार-कार्य नहीं कर रहे हैं; तीसरी बात यह कि वे वैसा कोई प्राणायाम वा ध्यान भी नहीं कर रहे हैं जिसे लोग साधारणतः प्राणायाम या ध्यान समझते हैं; और अन्तिम बात यह कि वे न तो यह घोषित कर रहे हैं, न इस सिद्धान्तका अनुसरण ही कि, 'यद्यपि कर्म बुरा नहीं है, अच्छा ही है, तथापि उनका जो खास योग है वह कोई बहुत बड़ी और बहुत ऊँची चीज है'।

यह स्पष्ट ही देखनेमें आता है कि ये बड़े राजनीतिक नेता और इनका कर्मयोग दोनों ही हिमालय-जितने बड़े किसी चक्करमें पड़ गये हैं। ये जब श्रीअरविन्दकी बात कहते हैं तब यथार्थमें इनका ध्यान आध्यात्मिक साधनाके कुछ प्राचीन सम्प्रदायोंकी ओर ही रहता है। पर श्रीअरविन्द-की शिक्षा और साधनाकी एक खास बात यह है कि यहाँ अकर्मण्य और जीवनमारक जडभाव, मायावाद, संसार-त्याग और मठावास आदि उन बातोंका सुस्पष्ट और तीव्र निषेध है जो कि पश्चात्कालीन भारतवर्षकी, अवनति-कालकी

बातें हैं। ये बातें इनके मार्गमें भी उतनी ही बाधक हैं जितनी कि कर्मप्रधान सम्प्रदायमें। अन्तर केवल इतना ही है कि श्रीअरविन्द सब तरफसे आँखें बन्द करके यह नहीं कहते कि 'ध्यानमें जाकर छिप जाना भी एक प्रकारकी दुर्बलता है' न यह कहते हैं कि श्रीबुद्धदेव कोई दुर्बल व्यक्ति थे या श्रीशङ्कराचार्य अकर्मण्य थे।

यहाँतक यह बात हुई कि श्रीअरविन्द क्या नहीं कर रहे हैं; अब हम लोग यह देखें और समझनेका यत्न करें कि वे क्या कर रहे हैं। उपर्युक्त सुप्रसिद्ध देशभक्त प्रकृतिको जीतने और प्रकृतिसे युद्ध करनेकी बात कहते हैं। युद्धका ही इनका यह रूपक लेकर हम यह कह सकते हैं कि श्रीअरविन्द जो कार्य कर रहे हैं वह ऐसा ही एक युद्ध और प्रकृतिपर विजय है। पर प्रश्न यह है कि 'प्रकृति' क्या है और विजय करनेका क्या अर्थ है तथा युद्ध भी किस प्रकारसे करना है और उसके लिये आवश्यक शस्त्रास्त्र क्या हैं। उत्तम सेनापतिके लिये यह आवश्यक है कि पहलेसे इन सब बातोंको समझ ले और तब अभियानका क्रम निश्चित करे और तभी रणक्षेत्रमें उतर पड़े। हमारे ये कर्मी नेता यह कहते हैं कि 'अनवरत और स्वार्थरहित कर्म' ही युद्ध करने और प्रकृतिको जीतनेका उपाय है। जो कोई ऐसी बात कहता है वह जानता ही नहीं कि वह क्या कहता है

और जो कुछ कहता है उसका अभिप्राय भी वह नहीं हो सकता ।

यूरोपका विज्ञान एक तरहसे प्रकृतिको जीत रहा है । एक तरहसे एक हदतक कुछ क्षेत्रोंमें उसने प्रकृतिपर बहुत कुछ अपना काबू और अधिकार जमाया है; पर यह विजय उसके अपने दायरेके भीतर चाहे जितनी बड़ी या अद्भुत हो, मनुष्य जो कुछ वास्तवमें है उसके समीप यह फटकने भी नहीं पाती और इससे न तो उसके भवितव्यमें कोई परिवर्तन होता है न उसके अन्तरात्मापर ही कोई असर पड़ता है । कारण, प्रकृतिका सबसे अधिक प्राणमय अंश तो प्राणकी ही वृत्तियाँ हैं—वे वृत्तियाँ जिनसे रोग होते हैं, बुढ़ापा आता है और मृत्यु होती है, जिनसे लड़ाई-झगड़े होते हैं, लोभ और लालच बढ़ता है, जिनसे मनुष्य-में सभी पाशविक और आसुरी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो अज्ञानमय अन्ध शक्तियाँ हैं, जिनसे मनुष्यका स्वभाव बनता है और जिनसे मनुष्योंके समाज संघटित होते हैं । इस प्राणमय जगत्से उठकर जब हम मनोमय जगत्में आते हैं तो यहाँ वही अन्धकाराच्छन्न टिमटिम प्रकाश देखते हैं जिसमें झूठ सत्य बनकर सामने आता है, मानसिक दुराग्रह आत्मतत्त्व बनकर पूजित होते हैं और मनकी लहरें आदर्श-सी देख पड़ती हैं ।

मनुष्यकी यही तो वर्तमान प्रकृति है जो मन-बुद्धि प्राण और देह इस त्रिविध पाशसे बँधी है। इन्हीं पाशोंको काटकर ही तो प्रकृतिको जीतना है। यही वह अपरा प्रकृति है जिसका उल्लेख प्राचीन आचार्योंने किया है, जिसने मनुष्यको सदाके लिये अपर धर्मसे बाँध रक्खा है। जीवन-का यह अपूर्ण रूप है, पर जीवन जिसको कहते हैं वह अबतक यही रहा है, आज भी मनुष्य-समाजका यही जीवन है। कितना भी अनवरत कर्म हो, कितना भी वह स्वार्थ-रहित हो उससे प्रकृतिका चक्का बाल बराबर भी उस रास्तेसे नहीं हट सकता जो रास्ता इसने पहलेसे बना रखा है। इन्हीं अपरा प्रकृतिकी शक्तियोंसे ही मनुष्य-स्वभाव और मनुष्य-समाज बना है और इन्हीं शक्तियोंसे परिचालित हो रहा है। हम लोग बाहरसे चाहे जितना इसमें उलट-फेर और उधार-सुधार करें, संसारके जीवनकी जो सामान्य परिपाटी है और जीवनका यह जो मूलरूप है वह बदलने-वाला नहीं। पृथ्वीको जीतनेके लिये (और प्रकृतिको जीतनेका मतलब पृथ्वीको जीतनेके सिवा और कुछ नहीं हो सकता इसलिये) और उसके परिभ्रमणकी कक्षा बदलनेके लिये यह आवश्यक है कि कोई ऐसी धुरी मिले जो पृथ्वीके बाहरकी हो।

श्रीअरविन्द संसारसे भागकर अस्पन्द अकर्मण्य अनन्त-में छिप जानेकी शिक्षा नहीं देते; उनके विचारमें जीवनका

लक्ष्य जीवनका नाश नहीं है। पर इतनेसे वे यह भी माननेको तैयार नहीं हैं कि प्राकृत धर्मके चक्करमें चक्कर काटना ही कोई उत्तम जीवन है। पहली बात यदि अन्धी गली है तो दूसरी वह चरखा चलाना है जिसका कोई अन्त नहीं— दोनों ही मार्ग ऐसे हैं जिनसे आदमी कहीं भी पहुँच नहीं सकता।

श्रीअरविन्दकी साधनाका आरम्भ एक ऐसी शक्तिकी अनुभूतिसे होता है जो सामान्य प्रकृतिके परे है और जो सामान्य प्रकृतिको चलानेवाली अधिष्ठात्री शक्ति है। पृथ्वीके बाहरकी धुरी हम जिसे कहते हैं वह वही है। कारण, सबसे पहली आवश्यक बात ही यह है कि मनुष्य अभी अपनेको जो कुछ समझता है उसकी वह समझ बदले, उसे इससे भिन्न आत्मचैतन्यका अनुभव हो और वह उसके अन्तः-करणमें व्यक्त हो, तब उसीके द्वारा उसीकी आत्मशासनकी अदम्य शक्ति और ध्रुवा नीतिसे मनुष्यकी प्रकृति ही सर्वथा पलट जायगी। अभी तो मनुष्य-जातिपर असुर राज कर रहे हैं, क्योंकि मनुष्यने अबतक अपने-आपको असुरके साँचेमें ही ढलने दिया है; असुरोंको निकाल बाहर करनेके लिये देवताओंको ही उनकी ऐशी शक्तिके साथ मनुष्यके अन्तःकरणमें और बाह्य संसारमें लाना होगा। यह बड़ा ही प्रचण्ड कार्य है, कुछ लोग तो कहेंगे कि 'असम्भव' है;

यह और चाहे कुछ भी हो, पर सुषुप्ति या अकर्मण्यता तो नहीं है। श्रीअरविन्द एकान्तवासमें हैं, पर यह एकान्तवास केवल वर्तमान राजनीतिक घटनाओंके बाह्यक्षेत्रसे है, जीवनकी वास्तविक शक्तियों और कर्मसे नहीं। यह एकान्तवास जिसे अपने-आपमें लौटकर सर्जन-शक्तिके एक नवीन क्षेत्रको जीतना है उसके लिये आवश्यक है। यह एकान्तवास प्रवेश है उस लोकमें, जो सब आधारभूता शक्तियों और मूल-सत्ताओंका लोक है, जो सब पदार्थोंका प्रज्वलित हृदय है जहाँसे ही सब घटनाएँ जन्म और अपना प्रथम आकार धारण करती हैं। यह आविष्करण है उस शक्ति-संग्रहालयका जिसमें प्रचण्ड शक्तिमत्ता और उसे पार्थिव जीवनके काममें ले आनेकी साधन-योजना भरी हुई है।

और फिर ठीक तरहसे देखिये तो श्रीअरविन्दको घेर-कर जो आश्रम बढ़ रहा है वह कोई सम्प्रदायोंमें सम्प्रदाय नहीं है, केवल 'कोई मत' नहीं है। यह उस नये जीवनका हृदय है जो भविष्यमें पूर्ण आकारमें परिणत होकर निर्माण होनेको है। बाह्य दृष्टिके लिये तो यह आज प्रायः कुछ नहीं-सा है; क्योंकि यह कार्य अभी प्रयोगकी अवस्थामें है और सो भी बहुत मर्यादित रूपमें। विज्ञानमें जब किसी नये तत्त्वका आविष्कार होता है तब उसकी सम्पूर्ण कार्य-विधि

निर्माण होनेके पूर्व जैसे विज्ञानकी प्रयोगशालामें उसके प्रयोग होते रहते हैं वैसी ही यह बात समझनी चाहिये। और यह समझना तो बड़ी भूल है कि आश्रमकी तरफसे कोई बड़ा भारी प्रचार-कार्य हो रहा है या आश्रमको उम्मीदवारोंकी बड़ी आवश्यकता है। यहाँ तो केवल उन्हीं चुने हुए थोड़े-से लोगोंका काम है जिनके हृदयोंमें यह आवाज उठी हो और जो भविष्यके भावसे अनुप्राणित होकर इस कार्यमें समुद्यत हों। केवल उन्हींको इस महदुद्योग और इस महदनुभवमें यथाशक्ति सेवा करने और इसके प्रथम यंत्र और प्राथमिक कार्यकर्ता बननेका अवसर मिल सकता है।

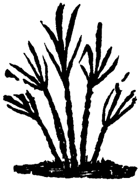

श्रीअरविन्दका गीताभाष्य

श्रीमद्भगवद्गीतासे जो अनेकविध विचार-सम्प्रदाय निकल पड़े हैं उन सबके समन्वयकी दृष्टिसे श्रीअरविन्दका गीताभाष्य विलक्षण और बड़े ही महत्त्वका है। गीताका परम रहस्य 'रहस्यमुत्तमम्' भिन्न-भिन्न विचारवालोंको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दिखायी दिया है। इन सबके सामान्यरूपसे दो मुख्य विभाग किये जा सकते हैं, एक प्राचीन और दूसरा आधुनिक। प्राचीन सम्प्रदाय जो श्रीमत् शङ्कराचार्य अथवा श्रीश्रीधराचार्यद्वारा प्रतिपादित

है, श्रीमद्भगवद्गीतामें उसी आध्यात्मिक योगको देख रहा है जो उस कालमें किसी-न-किसी रूपमें प्रचलित था जब कि जीवनका परम लक्ष्य जीवनसे मुक्त होना ही माना जाता था चाहे यह मोक्ष निष्काम कर्मसे प्राप्त हो अथवा ज्ञान या भक्तिसे, अथवा इन तीनोंके समुच्चयसे । इसके विपरीत आधुनिक सम्प्रदाय जिसके आचार्य बङ्गालमें बङ्किमचन्द्र हुए और जिसे तिलकने पीछे और अधिक उन्नत करके पूर्ण शास्त्रीय स्वरूप दिया वह भी अपने कालके भावसे ही प्रेरित है और उसकी दृष्टिमें गीतामें जीवनको परिपूर्ण करनेका ही सिद्धान्त है । प्राचीन सम्प्रदायमें आध्यात्मिक और धार्मिक अनुशासनपर ही जोर है जिसका यह मतलब है कि यहाँ लक्ष्य पारलौकिक जीवन है; आधुनिक सम्प्रदायका यह प्रयत्न है कि पिछले समयमें हिन्दुस्थानमें जो निवृत्तिमार्ग अत्यन्त प्रबल हो उठा था उसमें प्रवृत्तिका प्राण आ जाय, कर्मका माहात्म्य बढ़े, अपने नित्यके जीवनमें कर्तव्यपरायणता आ जाय इसका उद्देश्य भले ही पारमार्थिक ही हो । इस सम्मिश्र आध्यात्मिकताके लिये आधार, यह नवीन सम्प्रदाय, उस वास्तविक प्राचीन भारतीय जीवनसे, अर्थात् जनक और याज्ञवल्क्यके उदाहरणोंसे उपस्थित कर सकता है, पर यह सम्प्रदाय यूरोपियन कर्मवाद और आचारशास्त्रसे ही प्रभावान्वित है । इसमें सन्देह नहीं कि इसी प्रभावके कारणसे अपने आध्यात्मिक पुनरुद्धारकी ओर

प्रवृत्ति हुई, पर इसकी जो छाप पड़ी है उसे आधुनिक सम्प्रदायवाले हमारे बड़े-से-बड़े प्रतिपादक भी अपने चित्तसे पूर्णतया हटा नहीं सके हैं। आध्यात्मिक जीवनके प्रवृत्ति-मार्गके सम्बन्धमें आधुनिकोंका जो विचार है वह प्राण-चेष्टा और नैतिक आदर्शसे ही प्रेरित है यह बात स्पष्ट है। यहाँ जो कुछ प्राणचेष्टा या जो कुछ प्रवृत्ति है उसका मूलतः लक्ष्य है नीतिमान् पुरुष; और अध्यात्म-तत्त्व या परब्रह्मप्राप्ति या ईश्वरभक्ति या आत्मसुखका काम यहाँ नैतिक आचरणमें केवल सहायक होना है।

श्रीअरविन्दने कर्मको मानस और नैतिक क्षेत्रसे सर्वथा ऊपर उठा लिया है और उसे सर्वभावेन आध्यात्मिक जीवन प्रदान किया है। जहाँसे कर्म आरम्भ हुआ, जो उसका मूल उद्गमस्थान है उसीमें कर्मको ले जाकर कर्म अध्यात्मस्वरूप किया गया है, क्योंकि कर्म तो ईश्वरकी चिच्छक्तिका ही प्रकाश है।

परब्रह्म परमात्मा श्रीपुरुषोत्तमके अंदर ही ब्रह्म और जगत्की द्विविध सत्ता है, वे ही कर्मके प्रभु हैं जो अकर्ता होते हुए कर्म करते हैं, उन्हींमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और उनके अनन्त कोटि जीव उत्पन्न होते, चलते और बने रहते हैं। कर्मयोग मन-बुद्धि प्राण और शरीरसे, कर्मके ईश्वर, प्रकृतिके प्रभुके साथ, उनके विश्वलीलाकार्यमें

एक होना है। यह एकत्व, यह योग मानवस्वभावके दिव्य बन जानेपर प्राप्त होता है, तब प्राप्त होता है जब परादिव्य प्रकृति प्रकट होती और अपरा मानव प्रकृतिरूप यन्त्रमें उतरकर उसे अधिकृत कर लेती है।

यहाँतक आकर पीछे फिरकर देखिये तो, गीताको समझनेकी दृष्टि ही सर्वथा दूसरी हो जाती है। आधुनिक मतवादियोंने गीतामें जिस कर्म और कर्मयोगका प्राधान्य ढूँढ़ निकाला है वह कर्म और वह कर्मयोग भी, अब इस दृष्टिसे, एक बहुत ही छोटी-सी चीज रह जाता है और उसका कोई विशेष महत्त्व भी नहीं रहता। यहाँ विचारका केन्द्र हो जाता है दिव्य पराप्रकृति, श्रीभगवान्‌की अपनी स्थिति, त्रिगुणातीत चैतन्य, श्रीपुरुषोत्तमका इस मानव-जगत्‌में अवतरण और लीलाभिनय, और तन्निमित्त मनुष्यके अङ्ग-प्रत्यङ्गका परम पुरुषमें पूर्ण स्वात्मार्पण।

गीताके गुह्याद्‌गुह्यतररहस्य यथार्थमें पिछले अध्यायोंमें हैं, पूर्वके अध्याय उनकी ओर ले जानेवाले साधन और मार्ग हैं अथवा अंशतः गुह्याद्‌गुह्यतररहस्यके प्रतिपादक और उनका व्यावहारिक प्रयोग बतलानेवाले भी हैं। यह इसलिये बतलाना पड़ा कि बहुत लोगोंका यह ध्यान है कि गीताकी मुख्य शिक्षा पूर्वाध्यायोंमें ही है, पिछले अध्याय उनके विचारमें उपेक्षणीय अथवा त्याज्य भी हैं।

श्रीअरविन्दका गीताभाष्य

श्रीअरविन्दकी प्रतिपादनशैलीके सम्बन्धमें भी एक बात कहना आवश्यक प्रतीत होता है। यह शैली श्रीअरविन्दकी अपनी और अति विलक्षण शैली है। इसको पढ़ते हुए यह नहीं मालूम होता कि हम केवल कोई वेदान्त ग्रन्थ पढ़ रहे हैं, यद्यपि वेदान्त इसमें कूट-कूटकर भरा हुआ है; बल्कि यह मालूम होता है कि इसकी एक-एक पंक्ति किसी महापुरुषके दिव्य सन्देशसे स्पन्दित हो रही है, मानो गीताकी मन्त्रशक्ति ही इसमें विलसित हो रही है।

आध्यात्मिक जीवन

आजकल आध्यात्मिक जीवनके सम्बन्धमें अनेकोंने अनेक भ्रान्त धारणाएँ धारण कर ली हैं। इसका एक कारण तो यह है कि आधुनिक मनोभाव (modern mentality) पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षाके द्वारा गठित हुआ है। पाश्चात्य देशोंमें आध्यात्मिक जीवनके सम्बन्धमें जैसी विचित्र धारणाएँ हैं, उन्हीं सबने हमारे शिक्षित समाजमें भी अपना घर बना लिया है। दूसरी

ओर, हमारे देशमें जिन लोगोंने पाश्चात्य शिक्षा नहीं पायी है या जिनपर उस शिक्षाका प्रभाव नहीं पड़ा है, उन लोगोंने भी अधिकांशमें धर्म-सम्बन्धी जितने गतानुगतिक बाहरी आचार-व्यवहार हैं, उन्हींको आध्यात्मिक जीवनका मूल तत्त्व मान लिया है। भारतमें आध्यात्मिक जीवनके नामपर प्रचलित घोर तामसिकताके विरुद्ध स्वामी विवेकानन्दने जो आजीवन संग्राम किया, हमारे देशके शिक्षित समाजमें उसका बहुत कुछ आदर हुआ है। परन्तु स्वामीजीकी आध्यात्मिकता किस बातमें है, उनकी जीवन-सम्बन्धी निगूढ़ शिक्षा क्या है, यह बात आज दिन भी लोगोंकी समझमें ठीक-ठीक तरहसे नहीं आयी। इस विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सेवाश्रम स्थापित करके तमोग्रस्त भारतमें वह एक नये युगकी सूचना कर गये। पर संसारमें सेवाश्रमोंकी क्या कमी है? इस कार्यमें भारत आज भी जड़वादी पाश्चात्य देशोंसे बहुत ही पिछड़ा हुआ है, यद्यपि एक समयमें बौद्ध-संघोंके द्वारा भारतने ही संसारको सेवाधर्मकी दीक्षा दी थी। आजकल जितने ईसाई-मिशन संसारभरमें सेवाकार्य कर रहे हैं वे उसी प्राचीन बौद्ध-मिशनकी प्रतिच्छाया हैं। दरिद्रनारायणकी सेवा, पीडितोंकी शुश्रूषा, देशका कल्याणसाधन, संसारका कल्याण-साधन—ये सब बड़े महान् कार्य हैं, इन सबके द्वारा हमारे शरीर और मनकी शक्ति विकसित होती है, हृदय विशाल

होता है, हम संकीर्ण स्वार्थपरतासे ऊपर उठकर साम्य और मैत्रीका भाव प्राप्त करते हैं। परन्तु आध्यात्मिक जीवन इतना-सा ही नहीं है; ये सब बातें तो उपकरणमात्र हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अध्यात्म-जीवनके लिये एक हदतक आगे बढ़ सकता है। आध्यात्मिक जीवनकी मूल बात तो हमारी देह, प्राण, मन, बुद्धिके परे जो आत्मा है उसमें है। जिस आत्माके द्वारा हम भगवान्‌के साथ एक हैं, उसी आत्माको जानना, उसी आत्माकी शक्ति और ज्योतिके द्वारा देह, प्राण, मनको ऐसे शुद्ध और रूपान्तरित करना कि सब भगवत्-ज्ञान, भगवत्-शक्ति, भगवत्-आनन्दसे परिपूर्ण हो उठें, यही आध्यात्मिक जीवनकी मूल बात है। उस आत्माको मन-बुद्धिके तर्कके द्वारा नहीं जान सकते, अविश्रान्त-कर्मके द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकते। श्रीरामकृष्णने कहा है, 'जबतक मनके द्वारा विचार किया जाता है तबतक नित्यके पास नहीं पहुँचा जा सकता। जब विचार बन्द हो जाता है तब ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। इस मनके द्वारा आत्माको नहीं जान सकते। आत्माके द्वारा ही आत्माको जान सकते हैं।' किन्तु हमने तो पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावमें आकर यही सीखा है कि मन-बुद्धिके द्वारा ही हम लोगोंको सब कुछ देखना होगा, समझना होगा। पाश्चात्य मतके अनुसार आध्यात्मिकता मन-बुद्धिकी एक उच्चतर, सूक्ष्मतर क्रियाके

सिवा और कुछ भी नहीं है। हमारे देशके भी अधिकांश लोग आज इसीको आध्यात्मिकता समझते हैं। श्रीरामकृष्णका दृष्टान्त और उनके उपदेश देशके सामने रहनेपर भी लोग अपने मनमें आध्यात्मिकताके विषयमें ऐसी भ्रान्त धारणाका पोषण करते रहें, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। स्वामी विवेकानन्दको छोड़कर जिस तरह श्रीरामकृष्णको नहीं समझा जा सकता, उसी तरह श्रीरामकृष्णसे अलग करके पाश्चात्य एक्टिविज़्म (Activism) या कर्मवादके आदर्शके रूपमें विवेकानन्दको समझनेकी चेष्टा करनेसे हम पद-पदपर भूल ही करेंगे।

मनुष्य बुद्धिजीवी पशु (rational animal) है, उसकी मन-बुद्धि ही उसकी विशेषता है जो पशुओंमें नहीं है। यही उसका मनुष्यत्व है। मन-बुद्धिके युक्तितर्कको हम हेय नहीं कहते। कारण, इसी युक्ति-तर्ककी सहायतासे आधुनिक विज्ञानने जो-जो बातें ढूँढ़ निकाली हैं और अब भी निकाल रहा है—उनसे मनुष्यके अशेष कल्याणका मार्ग उन्मुक्त हो गया है। किन्तु साथ ही इस विज्ञानकी चमक-दमकने हमारी आँखोंको बहुत कुछ अन्धा भी बना दिया है। जिस समय संसार इस महान् सत्यको सम्पूर्णरूपसे भूल रहा था कि मनुष्य मनुष्यत्व (और पशुत्व) को छोड़कर देवत्व भी लाभ कर सकता है, मन-बुद्धिके

तमसाच्छन्न क्षीण आलोकसे ऊपर उठकर आत्माकी दिव्य ज्योतिके अंदर भी प्रतिष्ठित हो सकता है और केवल इसी रूपसे मानव-जाति, मानव-समाजकी प्राचीन कालसे चली आयी हुई समस्त समस्याओंका पूर्ण समाधान हो सकता है, ठीक उसी सन्धिक्षणमें संसारको वास्तविक कल्याणका मार्ग दिखलानेके लिये श्रीरामकृष्णका आविर्भाव हुआ। हमलोग यदि उनकी वाणीको ग्रहण नहीं करेंगे तो यह हमारे लिये, सारे जगत्के लिये दुर्भाग्यकी बात होगी। कारण, मन-बुद्धिकी चेष्टाके द्वारा, अविश्रान्त कर्मतत्परता (Activism) के द्वारा मनुष्य कितनी दूरतक क्या कर सकता है, इसकी चरम सीमा दिखाकर आज पाश्चात्य जगत् एकदम दिवालिया बन गया है। संसारभरमें आज जो सङ्कट (Crisis), जो विकट समस्या उपस्थित है, उसका वास्तविक निवारण, वास्तविक समाधान किसीको नहीं मिल रहा है! इसीसे आज जडवादी पाश्चात्य जगत्से उसीके अपने स्वरमें यह घोषित हो रहा है कि—"To have peace one must undergo something like a spiritual revolution." अर्थात्, अब तो तभी शान्ति हो सकती है जब कोई महान् आध्यात्मिक क्रान्ति हो। इस युगोपयोगी आध्यात्मिकताके निगूढ़ तत्त्वको समझानेके लिये श्रीरामकृष्णका आविर्भाव हुआ था।

स्वामी विवेकानन्दके विषयमें वह कहा करते थे कि—'ऐसा होनेपर (अर्थात् अपनी अपूर्व शक्तियोंको आध्यात्मिक योगमें न लगानेकी हालतमें) नरेन्द्र* अन्य सब नेताओंकी तरह एक नवीन मत और एक नवीन दलकी सृष्टिमात्र करके संसारमें ख्याति-लाभ कर जायगा; किन्तु वर्तमान युगकी आवश्यकता पूरी करनेके लिये जिस उदार आध्यात्मिक तत्त्वकी उपलब्धि और प्रचारकी आवश्यकता है उसे प्रत्यक्ष करना और उसकी प्रतिष्ठामें सहायता करके जगत्का यथार्थ कल्याण करना उसके द्वारा सम्भव नहीं होगा'—(श्रीश्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसङ्ग)। किन्तु स्वामी विवेकानन्दके कार्योंका पूरा हिसाब लेनेका समय अभी नहीं आया है। हाँ, 'वर्तमान युगकी आवश्यकता पूरी करनेके लिये जिस उदार आध्यात्मिक तत्त्वकी उपलब्धि और प्रचार' की आवश्यकताकी बात श्रीरामकृष्ण बार-बार कह गये हैं, उसको अच्छी तरह समझनेका समय अवश्य आ गया है।

जिस तरह आजीवन सन्ध्या-आह्निक, जप-तप, गङ्गा-स्नान आदि करनेपर भी भगवान् नहीं मिलते, अध्यात्म-जीवन नहीं प्राप्त होता, उसी तरह अविश्रान्त

---

* स्वामी विवेकानन्दका पूर्वाश्रमका नाम।

देशहितकर, जनहितकर कार्योंमें लगे रहनेपर भी अध्यात्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती। देश, काल, पात्रविशेषके लिये इन सबका प्रयोजन है, उपयोग है, किन्तु मूल वस्तुको प्राप्त किये बिना इन सबके अंदर जन्म-जन्म चक्कर ही काटते रहना पड़ता है, इनसे ऊपर नहीं उठते बनता। वह मूल वस्तु है आत्माका उद्बोधन। अहङ्कारके मोहको छोड़कर, वासनाके पाशको छिन्न करके जो अनन्यभावसे केवल भगवान्‌को ही चाहते हैं, वे यथासमय भगवत्-स्पर्श लाभ करते हैं और उस स्पर्शसे ही होता है उनके आत्माका उद्बोधन। एक बार वह स्पर्श जिसे मिल जाता है, उसके अंदर अध्यात्म-सिद्धि सहस्रदल कमलकी तरह एकके बाद एक दल खोलकर अपने आप प्रस्फुटित हो उठती है। चाहिये अहंभावका त्याग और अनन्यभावसे भगवान्‌की प्रार्थना। धर्म-कर्मकी तरह ही सब कर्मोंके भीतर हमारा अहं छिपा रहता है, गुप्तरूपसे रहकर अपने हाथ-पाँव फैलाता है। याग-यज्ञ, जनसेवा, देशसेवा आदिके द्वारा हम यश, मान, प्रतिष्ठा चाहते हैं। जब हम दरिद्रनारायण-की सेवा करके गौरवान्वित होते हैं तब हम मानो संसारमें दारिद्र्यको चिरस्थायी करना चाहते हैं। इस अहंभावसे अत्यन्त महान् चरित्रवाले व्यक्ति भी मुक्ति

नहीं प्राप्त कर पाते । यह अहंभाव आत्माको, भगवान्‌को आच्छादित कर रखता है । अहंभावसे छुटकारा पानेके लिये दृढ़ संकल्पके साथ कठोर साधना करनेकी आवश्यकता है । इस विषयमें श्रीरामकृष्णने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें निर्देश किया है—'···कहो कि हे ईश्वर ! मेरे विषय-कर्म कम कर दो, क्योंकि भगवन् ! देखता हूँ कि अधिक काम जुट जानेसे मैं तुम्हें भूल जाता हूँ । मनमें समझता हूँ कि निष्काम कर्म कर रहा हूँ, किन्तु वह सकाम हो उठता है । व्रत, तप, दान आदि जितना ही अधिक करने जाता हूँ उतनी ही लोकमान्य बननेकी इच्छा प्रबल हो उठती है ।' आगे फिर कहते हैं—'तुम कहते हो, 'संसारका उपकार' करेंगे । तो क्या संसार इतना-सा ही है ! और तुम कौन हो जो संसारका उपकार करोगे ? साधनाके द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार करो, उन्हें प्राप्त करो । जब वह शक्ति देंगे तब सबका भला कर सकोगे; अन्यथा नहीं ।'*

* जर्मनी बार-बार रणकी भीषण तैयारियाँ करता है संसारकी भलाईके लिये । अंगरेजोंका संसारभरमें विस्तृत साम्राज्य है संसारकी भलाईके लिये । जापान समूचे एशियामें अपनी लपलपाती हुई जिह्वा फैला रहा है संसारकी भलाईके लिये । भगवत्-स्पर्श-शून्य उग्र कर्मशक्तिके द्वारा संसार-

आजकलके इस कर्मवाद (Activism) के युगमें श्रीरामकृष्णका यह उपदेश बहुत-से लोगोंको बड़ा कड़वा मालूम होता है। स्वामी विवेकानन्दके कर्ममय जीवनका बाहरी भाव ही उन्हें दिखायी देता है। भारत लगातार तीन हजार वर्षतक जीवनके सब क्षेत्रोंमें, राष्ट्रमें, समाजमें, शिल्पमें, वाणिज्यमें, साहित्यमें अपूर्व कर्मशक्ति, सृष्टिशक्ति दिखाकर काल-प्रभावसे अवसन्न हो पड़ा था। उस अवसन्नताको छोड़कर वह फिर कर्ममय जीवनकी ओर झुक रहा है, यह शुभ लक्षण है। परन्तु उसके साथ ही यह भी देखना होगा कि भारतकी जो प्राचीन शक्ति आध्यात्मिकता है, जिसके कारण सैकड़ों उत्थान-पतनोंके अंदर भी वह अपने वैशिष्ट्यको सुरक्षित रक्खे हुए है, जगत्को वास्तविक कल्याणका मार्ग दिखानेका सामर्थ्य और योग्यता प्राप्त कर सका है—उस शक्तिकी अवहेलना करके वह अब पाश्चात्य जगत्का व्यर्थ अनुकरण करनेमें न लगे, परधर्म ग्रहण करनेके मारात्मक मोहमें पड़कर अपनेको भूल न बैठे। साधारण लोगोंमें कर्मत्यागकी शिक्षाका प्रचार करनेसे उनके अन्दर बुद्धि-

---

की भलाईके नामपर कितना अहित हो रहा है—'उग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः'!

भेद उत्पन्न होता है। वे लोग ऊपरकी चढ़ाईमें अग्रसर नहीं हो पाते, तामसिकताको ही वैराग्य, संन्यास आदि बड़े-बड़े नाम देकर अपना लेते हैं। इसीलिये गीतामें कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

'जो लोग अज्ञानी हैं, कर्ममें आसक्त हैं, उनका बुद्धिभेद मत करो (अर्थात् कर्मसे दूसरी ओर ले जाकर उनकी बुद्धि विचलित मत करो); ज्ञानी व्यक्ति भगवान्‌के साथ युक्त होकर ज्ञानके साथ सब तरहके कर्म करें और इस तरह उन्हें कर्ममें लगाये रहें।' भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं सब कर्मोंको करके मनुष्योंके सामने कर्ममय जीवनका आदर्श रख गये हैं। किन्तु उनका कर्म साधारण मनुष्यका कर्म नहीं, वह ज्ञानी-का कर्म, योगीका कर्म, दिव्य कर्म था। जिन्होंने अध्यात्मजीवन लाभ किया है, उनके लिये ही भगवान्‌की तरह दिव्य कर्म करना सम्भव है। सब लोग उस दिव्य जीवन, दिव्य कर्मके अधिकारी नहीं, और अधिकारीके सिवा दूसरेको इसकी शिक्षा देना विपत्ति-जनक है—यही भारतकी चिरकालीन नीति है। परन्तु इसी कारणसे साधारण मन-बुद्धिके जीवनको ही

अध्यात्मजीवन और साधारण राजसिक कर्मको ही कर्म-योग समझना भूल है। साधारण लोगोंका बुद्धिभेद न हो, इसलिये स्वामी विवेकानन्द जो कर्मजीवनका उपदेश देते थे, उससे हमारे अंदर बहुतेरे लोगोंका बुद्धिभेद हो गया है, हमने सेवाधर्मको ही अध्यात्मजीवनकी पराकाष्ठा मानना सीख लिया है।

जो अध्यात्मजीवन लाभ कर चुके हैं, वे कर्म नहीं करेंगे, ऐसा नहीं है। संसारके जितने भी आवश्यक कर्म हैं, वे सब वे कर सकते हैं, 'जोषयेत्सर्वकर्माणि।' परन्तु इन कर्मोंको करते हुए उन्हें साधारण मनुष्यकी तरह अज्ञानके वशमें होकर, अहङ्कारके द्वारा चालित होकर पद-पदपर भूलना-भटकना नहीं पड़ता। उस समय वे अपनी अन्तर्दृष्टिसे देख सकते हैं कि कब कौन कर्म करना होगा, किस रूपमें करना होगा, उसका फलाफल क्या होगा। भगवत्-शक्तिके सज्ञान यन्त्रके रूपमें वह जगत्में भगवान्की इच्छा पूरी करते हैं और यही कर्मका वास्तविक कौशल है—'योगः कर्मसु कौशलम्'। किन्तु इस कौशलको अधिकारमें लाना सहज नहीं। कर्मयोगीके दृष्टान्त राजा जनक हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—'अकस्मात् ही कोई राजा जनक नहीं बन सकता। राजा जनकने निर्जन स्थानमें

बड़ी तपस्या की थी।' दो दिन साधना करके, अथवा किसी तरहकी अध्यात्म-साधना, योग-साधना बिना किये ही, 'बिना डण्ठलके फूलके समान अपने-आप विकसित' जो लोग महापुरुष या अवतार बन बैठते हैं—और इस तरहके अवतार ही आज देशभरमें जहाँ-तहाँ देखे जाते हैं—उन्होंने अध्यात्मजीवनको एक दिल्लगी कायम किया है! संसारमें शुद्ध वस्तुमात्रकी नकल हुआ करती है। किन्तु इसी कारण यदि हम शुद्ध वस्तुका आदर करना न सीखें तो यह हमारा परम दुर्भाग्य है। शुद्ध आध्यात्मिक जीवन कैसे पहचाना जाता है, यह श्रीरामकृष्ण बता गये हैं—अपने दिव्य जीवन और उपदेशोंके द्वारा हमारे हाथोंमें आध्यात्मिक जीवनकी कसौटी ही दे गये हैं।

शुद्ध आध्यात्मिक जीवन बाहरकी चीज नहीं, भीतरकी चीज है। बाह्यतः कौन क्या करता है, नहीं करता, 'किमासीत व्रजेत किम्' इससे उसकी आध्यात्मिकताका परिचय नहीं मिलता। जिसने आत्माका पता पा लिया और जो उसके अंदर प्रतिष्ठित हो गया वही आध्यात्मिक है। इस तरहका व्यक्ति सब तरहकी वासना-कामनासे मुक्त, सब तरहके अहंभावसे मुक्त, सुख-दुःखमें, जय-पराजयमें, मान-

अपमानमें समतायुक्त, सब अवस्थाओंमें आत्माकी शान्तिमें, ज्योतिमें, आनन्दमें, निमग्न रहता है। किन्तु ये सब हैं भीतरके लक्षण, बाहरके किसी भी मानदण्डसे इसका मापन नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति सब कर्मोंका परित्यागकर ईंट-पत्थरकी तरह निश्चल हो जाता है, वही इस अवस्थाको प्राप्त होता है, यह बात नहीं। और यह अवस्था प्राप्त करनेसे ही मनुष्य ईंट-पत्थरके समान एकदम निर्वाक्, निस्पन्द, निष्क्रिय हो जाता है, यह भी नहीं, प्रत्युत भीतरकी इस शान्ति और समताकी इस अवस्थासे जो कर्म स्वतः सम्पन्न होता है वही होता है दिव्य कर्म। इस अवस्थामें मनुष्यका अपना कोई कर्म नहीं रहता, अपना कोई लाभ नहीं रहता, कोई इच्छा नहीं रहती, इसीसे भगवद्-इच्छा, भगवत्-प्रेरणा अबाधगतिसे उसके भीतरसे होकर काम करती है और उसीमें उसके सब कर्म अभ्रान्त, अजेय, जगत्के लिये परम कल्याणकारक होते हैं! मनुष्यके अन्तः-करणको क्षण-क्षणमें कितनी-कितनी चिन्ताएँ व्यापती हैं, कितने संकल्प उठते हैं, उन सबको भगवद्वाणी, भगवन्निर्देश मान लेनेके समान विपत्तिजनक और कोई बात नहीं। संसारमें नाना प्रकारकी अदृश्य अशुभ शक्तियाँ काम करती हैं, वे सब समय ही

मनुष्यको भगवत्-मार्गसे, कल्याणके पथसे भ्रष्ट करनेमें ही लगी रहती हैं। हमारे सामान्यसे किसी भी छिद्रके रास्तेसे ये हमारे भीतर प्रवेश करती हैं, नाना प्रकारकी मूर्तियाँ धारणकर, नाना प्रकारसे बहकाकर ये हम लोगोंको भुलावेमें डाल देती हैं। हम लोग उन्हींको भगवान्‌की वाणी मान लेते हैं, क्योंकि वे हमारे अहङ्कार, हमारी कामना-वासनाके अनुरूप ही होती हैं। यश, मान, धन, प्रतिष्ठा—यह सब हमारे हाथमें देकर वे हमारा सर्वनाश कर डालती हैं। इस तरह उन्होंने कितने ही अग्रगामी साधकोंको पथभ्रष्ट किया है। इसी तरह उन्होंने इतने दिनोंसे संसारमें अपना राज्य, अमङ्गलका राज्य अटूट बना रक्खा है, जो कुछ सत्य, सुन्दर, शुभ है सबको विकृत, कलुषित बना डाला है। इसी कारण अध्यात्म-पथके साधकको बड़ी सावधानीके साथ चलना पड़ता है, सब प्रकारकी वासनाओं, कामनाओंको चुन-चुनकर आधारसे बाहर निकाल फेंकना पड़ता है। और कभी कहीं वे छिपकर हमारा सर्वनाश न कर डालें, असुरकी वाणीको ही भगवान्‌की वाणी बतलाकर भ्रान्ति उत्पन्न न कर सकें, इसीलिये उपयुक्त गुरुकी सहायता सब तरहसे आवश्यक होती है। आन्तरिक निष्ठा, धैर्य, अध्यवसाय-के साथ श्रीगुरुके निर्देशके अनुसार जो दृढसङ्कल्प

होकर साधना करते हैं, यथासमय वे ही अध्यात्म-जीवन लाभ करते हैं। और एक बार जो इस जीवनके अन्दर प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके पतनकी फिर आशङ्का नहीं रहती, वह चाहे जहाँ रहे और चाहे जो करे, भगवान्के साथ उसका परम ज्योतिर्मय, आनन्दमय मिलन अटूट रहता है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

जो इस तरहकी भगवत्-कृपा प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें सबसे पहले पापका त्याग करना होगा, सात्त्विक, सदाचारी, पुण्यवान् होना होगा। किन्तु सदाचार भीतरकी चीज है, बाहरकी नहीं। मनुष्य जब सत्त्वगुणके द्वारा रज और तमको संयत करता है, तब वह सदाचारी, पुण्यवान् होता है। यह है आभ्यन्तरिक क्रिया। बाहर कौन क्या करता है, नहीं करता है, किसको स्पर्श करता है, किसका अन्न खाता है, इन सब बातोंके ऊपर पाप-पुण्य निर्भर नहीं करता। देखना होगा कि वह काम, क्रोध या लोभके द्वारा चालित होता है या नहीं। यदि अन्तर-पर इन सबका कोई प्रभाव न हो तो बाहरकी कोई वस्तु मनुष्यको कलुषित नहीं कर सकती। और जो भीतर इन सब चीजोंको जुटाये रहता है और केवल

बाहरकी शुचिता, पवित्रताको सब कुछ मान लेता है वह गीताकी भाषामें 'मिथ्याचारी' है—उसका वह आचार निष्फल है। आजकल हमारे कुछ भाई इसी मिथ्याचारको ही आध्यात्मिक जीवन मान बैठे हैं और गला फाड़-फाड़कर इसीका प्रचार कर रहे हैं। गीता कहती है—काम, क्रोध, लोभ ये ही तीनों पापके मूल हैं—नरकके द्वार हैं। जिस व्यक्तिने सत्त्वगुणके द्वारा, ज्ञानबुद्धिके द्वारा परिचालित होकर इन सबको संयत किया है, वही सदाचारी, वही पुण्यात्मा है। पर आध्यात्मिक जीवन इसके भी परे है। कारण, मन-बुद्धिके द्वारा काम, क्रोध प्रभृतिको कुछ अंशोंमें वशमें रक्खा जा सकता है, सम्पूर्णरूपसे जय नहीं किया जा सकता। जरा-सा भी छिद्र मिलते ही चाहे जब वे अपना बदला चुका सकते हैं—इस तरह कितने साधु-संन्यासियोंका पतन हुआ इसकी कोई गणना नहीं! श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि सत्त्वगुण सीढ़ीकी अन्तिम पैड़ी है, इसको भी पारकर ऊपर छतपर जाना है। इस अन्तकी पैड़ीको लाँघकर ऊपर उठना मनुष्यके अपने बसकी बात नहीं—यदि भगवान् स्वयं कृपा करके ऊपर न उठा लें तो उस दिव्य अध्यात्मजीवनके भीतर कोई भी प्रवेश नहीं

कर सकता—इसीलिये इस अन्तिम पैड़ीपर आकर श्रीभगवान्‌के निकट पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण करनेकी आवश्यकता होती है, सब कर्तव्यों, सब नीतियोंको छोड़कर केवल उनका कृपाप्रार्थी होकर उनके श्रीचरणमें शरण लेनी होती है। यही गीताकी परम शिक्षा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

ईश्वरका राज्य

ईश्वर कोई स्वेच्छाचारी राजा, स्वैरतन्त्र जार या शाहंशाह नहीं है जो किसी उच्च सिंहासनपर बैठा मनमाने ढंगसे मनमाने हुक्म और फर्मान निकालता हुआ अपने दासत्व-शृङ्खलाबद्ध प्रजाजनोंपर शासन करता हो और प्रजा केवल उसके हुक्मों और फर्मानोंको, बिना किसी ननु नच के, तुरत बजा लाती हो।

यदि राजाकी ही उपमा देनी हो तो, ईश्वर मर्यादित अधिकारवाले राजाके समान है। उसके राजका कानून

उसकी मर्जी नहीं है। राज्य-शासनकी एक पद्धति है, एक कार्यप्रणाली है, कुछ सिद्धान्त हैं, कुछ धर्म हैं, कुछ नियम हैं; और ईश्वर इन सबका पालन करता है। इस कार्यमें उसके प्रतिनिधि, मध्यवर्त्ती, कर्मचारी, अधिकारी और सेवक भी हैं—ऐसे यन्त्र हैं जिनके द्वारा वह अपना कार्य कराता है। वह स्वयं सबके ऊपर धर्मराजरूपसे, सबके प्रभु और सब धर्मोंके स्वामीरूपसे विराजमान है। उसकी मर्यादित शासनपद्धति ऐसी नहीं है जो उसे जकड़े हुए हो और वह उसे, उसके विचारमें आवश्यक होनेपर भी, बदल न सके। हाँ, यह बात है कि जब एक बार लीलाविशेषके कोई नियम बन जाते हैं तब वह उस लीलाके समाप्त होनेतक उन नियमोंका स्वेच्छासे पालन करता है।

* * *

ईश्वर अपनी सत्ता या अपना आगमन चकाचौंध उत्पन्न करनेवाले चमत्कारों, आकस्मिक उलट-फेरों या उत्पातोंसे घोषित नहीं किया करता। उसकी शक्ति, उसका ज्ञान और उसका प्रेम ऐसा है जैसी हमारे चारों ओर बहनेवाली हवा जिसका निःशब्द शान्त चलन-चालन प्रत्येक प्राणीके हृदयमें प्राण भर देता है, जिसकी प्रकाशवाहकता ही वह चीज है जिससे पृथ्वीपर सुसमृद्ध नानावर्णरञ्जित जीवन रूपान्वित होता है।

ईश्वर जबरदस्ती नहीं करता, मना लेता है। व्यष्टिगत जीव ईश्वरमेंसे ही उत्पन्न होता है और ईश्वरका ही अविच्छिन्न अंश बना रहता है; पर इस जीवको यह स्वातन्त्र्य दिया गया है कि वह जैसा जी चाहे रहे और जो मनमें आवे करे। और यद्यपि विश्वव्यापिनी ईश्वरी शक्ति क्रमविकासकी प्रवृत्तिके रूपमें, निम्न प्रकृतिको ईश्वरके निज आत्म-चैतन्य और उसकी ईश्वरीय प्रकृतिको, जो कि जीवमें अन्तर्निहित तथा ऊपर छायी हुई रहती है, क्रमशः प्रकट करनेकी ओर प्रवृत्त करनेका काम करती ही रहती है, तथापि यह विश्वव्यापिनी शक्ति ऐसी शक्ति है जो पीछे ही छिपी रहती है और इसका उद्दिष्ट कार्य केवल परिणामस्वरूप होता है। एतत्पूर्वके सुदीर्घ मध्यकालमें पूरे पाँच अङ्कोंका एक नाटक हो जाता है जिसमें जीव अपने अनुभवोंको सञ्चित करते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता, और ढूँढ़ता-खोजता, भूलता-भटकता और अन्तमें अपने-आपको प्राप्त होता है; तब उसे यह अनुभव होता है कि जो स्वतन्त्रता उसे प्राप्त थी अर्थात् अविद्याके क्षेत्रमें उतर आने और घुस बैठनेकी स्वतन्त्रता भी उसे स्वेच्छाकी क्रीडाके लिये, स्वानुसन्धानके सुखके लिये, स्वात्म-समर्पण और स्वात्म-पूर्णताके आनन्दके लिये दी गयी थी।

*　　*　　*

ईश्वरके साकार होकर प्रकट होनेमें उसके दो स्वरूप हैं; एक स्वरूप वह है जिसमें वह सर्वात्मा, अनन्त और सम ब्रह्म है, सर्वत्र व्याप्त और परस्परविरोधी धर्मोंका अर्थात् विद्या और अविद्याका, प्रभव और प्रलयका आश्रय है, द्वन्द्वमय है और सब द्वन्द्व उसमें हैं—यही वह आत्म-सत्ता है जो कि 'है'; दूसरा स्वरूप वह आत्मसत्ता है, जो 'होती है'—वह सब कुछ नहीं है बल्कि सबके ऊपर है, वह परात्पर परमकी वह सत्ता है जो प्रकट होकर नामरूपको प्राप्त होती है; यह विद्या-अविद्याका द्वन्द्व नहीं, प्रत्युत परा विद्या है; यह प्रभव-प्रलयका द्वन्द्व नहीं प्रत्युत अमृतत्व है। यह परमेश्वरकी स्वसत्यात्मिका प्रकृति है जो एक तरफ सबके परे, सबके पीछे, सबके मूलमें है; और दूसरी तरफ सबके खेलमें लगी हुई अन्तर्निहित है और क्रमशः सबके अन्दरसे बाहर निकलती हुई उसे रूपान्तरित करती और ऐसे रूपको प्राप्त कराती है जो मूल परात्परा परमा प्रकृतिके सदृश भी हो सकता है।

ईश्वरके इन दोनों ही स्वरूपोंको समझकर एक ही अद्वय अनुभूतिमें लाकर बिठाना होगा जिसमें अचल सम ब्रह्म अर्थात् अविचल शान्ति और पूर्ण स्वातन्त्र्य आधारभूत हो, और चलशक्तिस्वरूप सगुण साकार ब्रह्म इस नाम-रूपात्मक जगत्में ईश्वरी सङ्कल्प और उसकी पूर्णताको

अधिकाधिक निश्चित रूपसे प्रकट करे। ब्रह्मका एक स्वरूप वह है जो सब कुछ स्वीकार करता और अन्तर्भूत करता है, क्योंकि वह सब कुछ है; दूसरा वह स्वरूप है जो उसी व्यापक स्वीकरणके आधारपर, लेने योग्यको ले लेता है और अपने बढ़ते हुए प्रकाशके क्रममार्गमें उस अन्धकार या अज्ञानको जो द्वन्द्वात्मक प्रकृतिका एक भाग है, पीछे खिसकाता या नष्ट कर देता है।

*　　*　　*

अभी नामरूपात्मक सृष्टि जैसी है, वह असुरके हाथमें है। ईश्वरको अपना राज्य कई संघर्षण और द्वन्द्वशक्तियोंके कार्यके द्वारा स्थापित करना है। मनुष्य जो कुछ बुरा करता या जिससे कष्ट पाता है वह उसे असुरकी दासतासे प्राप्त है; इसी प्रकार जो कुछ भला वह कर सकता या पा सकता है वह उस दासतासे उसकी मुक्ति और अन्तर्निहित ईश्वरकी ओर उसकी वृत्तिका चिह्न है।

असुरका अर्थ है अविद्याका अज्ञानमय पृथग्भाव, अपरा प्रकृतिका अन्धकार। ईश्वरने अपने-आपको अपने महत्पदसे नीचे गिरा दिया है और तितर-बितर-सा किया है और इस तरह वह अज्ञानमय सृष्टिके रूपको प्राप्त हुआ है; उसने अधम होना, जडमें मिलकर जडीभूत होना इसलिये स्वीकार किया कि जडको क्रमशः चैतन्य किया जाय और

ज्योतिर्मय दिव्यरूप प्रदानकर इसे अपनी ईश्वरीय महिमासे युक्त किया जाय। सृष्टिकी सारी चलच्छक्ति इन्हीं दो वृत्तियोंका परस्पर व्यवहार है—एक सम्मुख, कर्मशील और प्रकट है और दूसरी पीछेकी ओर, अन्तर्निहित और गुप्त है। अविद्याकी वृत्तियाँ अपने अपरिहार्य नियति-चक्रमें चक्कर काटती हुई तो मालूम होती हैं, पर इस तरह चक्कर काटती हुई भी वे अन्तर्निहित आत्मतत्त्वके दबावसे क्रमशः विकसित होकर रूपान्तरित होने और अन्तमें उसी-को प्रकट और प्रत्यक्ष करनेमें लगायी जा रही हैं जिसका नास्तित्व ही वे अभी घोषित करती हैं अर्थात् ये उसी आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष करेंगी जो आत्मतत्त्व अपने मूल सत्स्वरूपमें अनावृत है।

एक दिन आवेगा जब ईश्वर ही अपने परात्पर परमानन्द और ज्ञान और शक्ति और पवित्रताके साथ इस पृथ्वीपर राज करेगा और मनुष्य-जीवनमें ही सच्चिदानन्द-धर्म प्रत्यक्ष होगा।

यह बात चाहे आज ही न हो या मानव-मानके अनुसार थोड़ी अवधिके भीतर न हो। मनुष्यकी क्षुद्रता अपनी अधीरतासे किसी समय कुछ सहस्र वर्षोंकी अपेक्षा अधिक व्यापक कालका अनुमान नहीं कर सकती थी। परन्तु अब हम लोगोंको पृथ्वीके जीवन और विकासका

माप दिव्य वर्ष-गणनासे करना पड़ता है और मनुष्य-जातिका जन्मकाल भूतकालमें पूर्वसे इतना पूर्वतर होता जा रहा है कि उस कालकी कोई स्पष्ट झलक नहीं मिलती, वह स्मृत्यतीत भूतकाल है। इस विश्वलीलाके कालक्रमणमें सहस्रों वर्ष कोई चीज ही नहीं हैं। यहाँकी सृष्टिका मान सनातन है; यह तो मनुष्यके अहंभावकी क्षुद्रता है जो सनातन और अनन्तको काट-काटकर अपने अनुकूल छोटे-छोटे टुकड़े बना लिया चाहती है।

वह दिन आवेगा जिसकी ओर सारा विश्व कालारम्भसे ही जा रहा है, वह दिन अपने समयसे आवेगा—चाहे आज आवे या कल आवे, दस वर्ष बाद आवे या एक शत अथवा एक सहस्र वर्ष बाद आवे; वह आवेगा ही इसमें सन्देह नहीं।